संध्योपासना के विषयमें थोडासा विवेचन।

मेरे कई मित्रोंनें मुझे 'संध्या' के विषयमें एक पुस्तक लिखने की कईवार प्रेरणा की। कइयोंने यहां तक मुझे बाधित किया और कहा कि दूसरा कोई कार्य न करते हुए तुम इसी कार्यको सबसे पहिले करो। परंतु जब मैं 'संध्या' के विषय में पुस्तक लिखने बैठता था, तब एक प्रकारकी भीति उत्पन्न होती थी। और मनमें दो प्रश्न खडे हो जाते थे, (१) क्या तुम यह नहीं जानते, कि आत्मिक अनुभव प्राप्त करने के पूर्व संध्या के विषयपर पुस्तक लिखना दूसरों को भ्रममें डालना है? और (२) जब तक संध्या के सब मंत्रों का परिज्ञान तुम्हें नहीं है, तब तक तुम संध्यापर पुस्तक किस प्रकार लिखोगे?

ये दोनों प्रश्न सच मुच बहुत विचार करने योग्य हैं, और इन प्रश्नोंके कारण ही संध्या के विषयपर पुस्तक लिखना इतने दिनों या सालों तक वैसा ही पडा रहा था। संध्या का विषय 'योग' के अंतर्गत है, और योग का विषय केवल तर्कसेही विदित होनेवाला नहीं है, इस लिये योग की विशेष भूमिकाओंका अनुभव लेनेके पश्चात् ही इस विषयपर लिखना और बोलना योग्य है। योग के विषयमें अनुभवके विना जिन्होंनें पुस्तकें लिखीं हैं, सब कीं सब भ्रम उत्पन्न करनेवालीं हो गई हैं। इस लिये संध्या के विषयमें ऐसी और पुस्तक लिख कर भ्रम का प्रचार करने की क्या आवश्यकता है? ऐसा विचार मेरे मनमें वारंवार आ जाता था।

और इस डर के मारे पुस्तक लिखना असंभव हो जाता था। बहुत दिनों के पश्चात् एक दिन मेरे एक माननीय मित्र आगये और कहने लगे कि, यदि पूर्ण प्रामाणिक पुस्तक नहीं लिखा जा सकता, तो न सही, जो कुछ इस समयके विचार हैं, उनको ही एकत्र करके संगृहित किया जाय, तो भी विचार करनेवालोंको कुछ लाभ हो सकता है। इस मित्रने मुझे समझाया, कि बहुतोंके अपूर्ण विचारों से ही पूर्णताका मार्ग विदित होना संभव है। वास्तव में ऐसा होना संभव हो या न हो, परंतु यह बात

सच्ची है कि इस समयमें हम दूसरा कुछ कर नहीं सकते । वैदिक परंपरा टूटनेके कारण मंत्रों के अर्थोंका ठीक पता इस समय लग नहीं सकता, तथा योगविद्या दुर्लभ होने के कारण ध्यान योग के बातोंका पूर्ण अनुभव प्राप्त होना अत्यंत कठिन है । इस अवस्थामें भिन्नभिन्न स्थान के अनेक विचारी लोकों के अनुभव और विचार मुद्रित होने से आपस के विचारों को—एक दूसरेके विचार देखनेसे—एक प्रकार की नवीन दिशा लग सकती है । और कालांतर से अनेकोंके थोडे थोडे अनुभव मिलकर एक पूर्ण ग्रंथ बन सकता है । इस लिये इस पुस्तकमें अपना और समान शील मित्रोंका जो जो अनुभव है उतनाही लिखा है, और केवल तर्ककी बात बहुत करके नहीं लिखी है । इसका हेतु इतनाही है, कि जो पाठक इस विधिके अनुसार संध्या करेंगे उनको योग्य समयमें इस पुस्तकमें लिखा अनुभव अवश्य प्राप्त हो जायगा । जो अनुभव एकको हुआ है वह दूसरेको भी प्रयत्न करनेपर अवश्य प्राप्त हो सकता है ।

ग्रंथोंके प्रमाण और युक्तिवाद स्थानस्थानपर दिये ही है, परंतु वे उतने ही हैं कि जितना अनुभव हो गया है । मंत्रोंके अर्थोंके विषयमें इतना लिखना आवश्यक है, कि 'मनसा परिक्रमाके मंत्र' बहुत प्रयत्न करने पर भी जैसे खुलने चाहिए वैसे अब तक नहीं खुले हैं । अन्य मंत्रोंके विषयमें कोई विशेष संदेह नहीं रहा है, परंतु 'मानसा परिक्रमा' के मंत्र मेंर लिये प्रारंभ से इतने कठिन रहे हैं, कि विशेषतः उनहीं के कारण संध्या पर पुस्तक लिखनेका कार्य इतनी देर वैसाही पडा रहा था । इस पुस्तकमें इन मंत्रोंका विचार करने के लिये बहुतसे प्रमाण एकत्रित किये हैं, और अनेक कोष्टक बनाये हैं, परंतु अभीतक वह आंतरिक बात गुप्त ही रही है, कि जिससे समाधान हो सकता है । इस लिये पाठक उनका अधिक विचार करें और यदि कोई विशेष बात सूझे तो मुझे अवश्य सूचित करें ।

इन मंत्रोंका तथा इस प्रकारके कई अन्य मंत्रोंका विज्ञान हमें इसलिये नहीं होता, कि हमारी वेदकी पढाई अपूर्ण है । यदि चारों वेदोंकी आद्योपांत पढाई हो जायगी, और मंत्रोंके पूर्वापर संबंधोंका निश्चित ज्ञान [illegible]ा, तो मंत्रोंके अर्थ समझनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी । यदि बहुतसे

विद्वान् वेदोंका स्वाध्याय नित्य करेंगे तो निश्चयसे वह दिन शीघ्रही आजायगा कि जिस दिनकी हम सब प्रतीक्षा कर रहे हैं। अस्तु । अब उन प्रश्नोंका विचार करूंगा कि जो प्रश्न संध्या के विषयमें वारंवार पूछे जाते हैं:—

(१) संध्या का अर्थ क्या है?

(सं) उत्तम प्रकारसे (ध्यै) ध्यान करना 'संध्या' का (Reflection, meditation, thinking about) तात्पर्य है। 'संध्या' शब्दका दूसरा अर्थ (Union) मेल, संयोग, संबंध है । उपासनाके समय परमेश्वर के साथ उपासक का संबंध अथवा मेल होता है, इस आशयका प्रकाश यह दूसरा अर्थ कर रहा है। पश्चात् दो पदार्थोंके संयोग संबंधके लिए गौण वृत्तिसे यह शब्द प्रयुक्त होने लगा, और अंतमें दिन और रात्रिके 'संधिसमय' के लिये रूढ हो गया । इस से पता लग जायगा, कि वास्तव में 'संध्या' का भाव मूलमें 'प्रातःकाल और सायंकाल' नहीं है, परंतु गौण वृत्तिसे अब यह भाव उस शब्दसे लिया जाता है। इतनाही नहीं परंतु प्रातःकाल और सायंकाल के साथ साथ 'संध्या' का अभेद संबंध जोडा गया है!!! और स्मृतियोंमें भी सवेरे शामके समय संध्या न करनेवालेको दंड लिखा है ।

(२) क्या संधिसमय का संध्यासे कोई संबंध नहीं है?

दिनरात्रीके संधिसमयका संध्याके साथ थोडासा संबंध है, परंतु जैसा बताया जाता है, उतना संबंध नहीं है। प्रातःकालका सूर्योदयका समय, तथा सायंकालका सूर्यास्तका समय निःसंदेह अत्यंत मनोहर होता है। नदीका सुरम्य प्रवाह, पहाडोंके अद्भुत दृश्य, वन्य वृक्षलतादिकोंके आनंदकारक प्रदेश, उद्यानों के रमणीय भाग आदि स्थानों में सायंकाल और प्रातःकालके रमणीय सूर्यकिरणोंसे ऐसे अद्भुत और विलक्षण दृश्य बनते हैं, कि देखनेवालोंके रसिक अंतःकरण उदात्त और गंभीर विचारोंसे परिपूर्ण होकर, इस प्रकारके अद्भुतलीलाकौशल्य और रचनाचातुर्य बनानेवाले परमेश्वरके विलक्षण सामर्थ्य के विचारकी लहरियों से प्रफुल्लित हो जाते हैं। इस लिये प्रातःकाल और सायंकालका संधिसमय संध्याके

लिये श्रेष्ठ माना गया है। तथा नदीका प्रवाह आदि स्थान भी अच्छे समझे गये हैं।

परंतु 'संध्या' का अधिकार सब देशोंके संपूर्ण लोकोंके लिये है। इस भूमिके ऊपर ऐसे भी प्रदेश हैं कि जहां कई मास तक सूर्योदय और सूर्यास्तमें केवल एक घण्टेका ही अवकाश रहता है, कई प्रदेशोंमें तीन तीन मासतक सूर्यदर्शन नहीं होता, कई प्रदेशोंमें बीस बीस घण्टोंतक रात्री ही रहती है। ऐसे प्रदेशोंमें रहनेवाले लोकोंके लिये सूर्यास्त और सूर्योदयका समय 'संध्याका समय' नहीं हो सकता। अथवा किसी उद्योग के कारण यदि हम उन प्रदेशोंमें चले गये, तो तीन महिनोंकी रात्रीमें संध्या करनेके लिये संधि समय ही नहीं मिलेगा और इस कारण संध्या नहीं होगी। इससे स्पष्ट है कि उक्त स्मृतियोंके आदेश केवल अपने हिंदुस्थानके लिये ही हैं। सार्वदेशिक नहीं हैं।

वास्तवमें ऐसा है कि, निद्राकी समाप्ति और जागृतिके प्रारंभमें तथा जागृतिकी समाप्ति और निद्राके पूर्व संध्या करना चाहिए। निद्रा रात्री है और जागृति दिन है। दोनोंके संधिसमयमें इस प्रकार संध्योपासना हो सकती है। जागृतिका प्रारंभ और जागृतिकी समाप्तिका तात्पर्य साधारण रीतिसे समझना चाहिए, अर्थात् जागनेके पश्चात् शौच, मुखमार्जन, स्नान आदि करके संध्योपासना करना चाहिए; तथा दिनके सब व्यवहारोंसे निवृत्त होकर निद्राके विश्रामके पूर्व संध्योपासना करना चाहिए। यह नियम सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो सकता है। स्मृतियोंके वचन अपने हिंदुस्थान देशके समयके लिये बहुत ही अच्छे हैं। इस लिये इस देशके लोक तथा इस प्रकारका दिनविभाग जहां होगा, वहांके लोक इसी प्रकार संध्या करें। विशेषतः प्रभातका समय ध्यान आदिके लिये बहुत ही अच्छा होता है। इस समयका एकान्त, शांति, प्रसन्नता, आदि गुणबाहुल्य इतना है, कि इस देशमें इस प्रभात और प्रातःकालके समयसे भिन्न कोई अन्य समय इसके बराबर नहीं हो सकता। इसी प्रकार थोडे रूपमें सायं समय है। इस कारण स्मृतिकारोंकी आज्ञा इस देशके व्यवहारके अनुसार बहुतही अच्छी है। इस लिये जहांतक संभव

वहां तक इस देशमें कोई मनुष्य संध्या करनेके लिये समयका उ-

लुंघन न करे । और समयके गुणोंसे अवश्य लाभ उठावे । यह संध्या करनेवालोंका अनुभव है कि प्रातःकालमें जिस प्रकार चित्तकी प्रसन्नता शीघ्र साध्य होती है उस प्रकार अन्य समय नहीं हो सकती । इस कारण समयकी अनुकूलतासे अवश्य लाभ प्राप्त करना चाहिए ।

(३) संध्या दिनमें कितनी वार करनी चाहिए?

दिनमें कितनी वार संध्या करना चाहिए यह एक बडा भारी प्रश्न है । कई लोक तीनवार संध्या करनेके पक्षमें हैं, और दूसरे दोवार संध्या करनेके लिये अपनी संमति देते हैं । तीन वार संध्या करनेवाले दो वार संध्या करनेके विरोधी नहीं हो सकते । संध्योपासना यह शुभ कर्म होनेसे यदि किसी को फुरसत होगी और वह भद्रपुरुष दो से अधिकवार संध्योपासना करने लगेगा, तो उसको कोई शास्त्र प्रतिबंध नहीं कर सकता । अच्छी प्रकार संध्योपासना करनेके लिये कमसे कम दो घंटेका समय लगता है । सवेरे शाम चार घण्टेका समय व्यतीत करनेके पश्चात् यदि कोई भद्रपुरुष बीचका समय संध्योपासनाके लिये निकाल सकता है, और अधिक आनंद प्राप्त करता है, तो बेशक करे । परंतु यहां प्रश्न ऐसा है कि इस विषयमें वेद की संमति क्या है? इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

दिनमें तीन वार उपासना ।

मम त्वा सूर उदिते मम मध्यंदिने दिवः ।
मम प्रपित्वे अपिशर्वरे वसवा स्तोमासो अवृत्सत ॥

ऋ. ८।१।२९

हे (वसो) सर्व निवासक ईश्वर ! (सूर उदिते) सूर्यका उदय होनेके समय (मम स्तोमासः) मेरे स्तोत्र (त्वां) तुमको (अवृत्सत) प्राप्त करते हैं । (दिवः मध्यंदिने) दिनके मध्यदिनमें (मम) मेरी प्रार्थना तेरे लिये होती है । और (अपि-शर्वरे) सायंकालके (प्रपित्वे) दिनके अंतके समयमें (मम) मेरी उपासना तेरे लिये होती है । अर्थात् मैं दिनमें तीन वार तेरी उपासना करता हूं । तथा—

उतायातं संगवे प्रातरह्नो मध्यंदिन उदिता सूर्यस्य ।
दिवा नक्तमवसा शंतमेन नेदानीं पीतिरश्विना ततान ॥

ऋ. ५।७६।३

हे (अश्विनौ) अश्वि देवो! (उत अह्नः प्रातः) निश्चयसे दिनके प्रातःकालमें (सं-गवे) गायका दोहन करनेके समय (आयातं) आइए। (उदिता सूर्यस्य) सूर्य उदय होनेके बाद (मध्यंदिने) मध्य दिनके समय आइए। तथा (दिवा नक्तं) दिन और रात्रीके संधिसमयमें (शं-तमेन अवसा) शांतियुक्त संरक्षणके साथ आइए। (इदानीं) इस समय (पीतिः न ततान) संरक्षण सर्वत्र फैला नहीं है॥ इस मंत्रमें अश्विनीदेवोंकी उपासना दिनमें तीनवार कही है । 'अश्' अर्थात् व्यापक देवताका नाम अश्विन् है। धन ऋण्, अथवा स्त्रीपुरुष (Negative and Positive) आदि द्वंद्व शक्तियोंसे युक्त होनेके कारण उस एक देवताका नाम 'अश्विनौ' अर्थात् 'दो अश्विदेव' है जिसकी तीन वार उपासना उक्त मंत्रमें कही है। तथा—

यदद्य सूर उद्यति प्रियक्षत्रा ऋतं दध ।
यन्निम्रुचि प्रबुधि विश्ववेदसो यद्वा मध्यंदिने दिवः ॥

ऋ. ८।२७।१९

हे (प्रिय-क्षत्राः) क्षत्रियो! (सूर उद्यति) सूर्यके उदयके समय अर्थात् (प्रबुधि) जागनेके समय (यत्) यदि आप (विश्व-वेदसः) सर्वज्ञानीके अर्थात् ईश्वरके (ऋतं) मंत्रकी (दध) धारणा करेंगे, (यत् निम्रुचि) यदि सूर्यके अस्तके समय करेंगे, (यत् वा) और (दिवः मध्यं दिने) दिनके मध्यमें करेंगे, तो आप (अद्य) आजसेही ऋतका धारण करनेवाले बन जांयगे॥ इस मंत्रमें दिनमें तीन वार उपासना करनेका उल्लेख है तथा इसमें एक बात विशेष कही है, कि उपासना 'प्रबुधि' अर्थात् प्रबोध समयमें करना चाहिए । निद्राकी समाप्ति होकर जागनेका जो समय होता है वह 'प्रबोध' समय कहलाता है। जागृतिके समयकी अपेक्षासे आरामके समयसे पूर्व एक वार संध्या करना चाहिए ऐसा स्वयं अर्थ निष्पन्न होता है। इससे स्पष्ट है कि वेदने सार्वदेशिक संध्याका समय सूचित किया है। तथा—

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यं दिनं परि ।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥

अथर्व. ६।१०८।५

'सायंकाल, प्रातःकाल और दिनके मध्यमें सूर्यके किरणोंके साथ तथा अपनी वाक्शक्तिके साथ मेधा नामक धारणावती बुद्धिको धारण करते हैं'। इस प्रकार तीन वार उपासना करनेका विचार वेदमें लिखा है। तथा—

यदद्य सूर उदिते यन्मध्यं दिन आतुचि ।
वामं धत्थ मनवे विश्ववेदसो जुह्वानाय प्रचेतसे ॥

ऋ. ८।२७।२१

यदि आप सूर्यके उदयके समय, मध्यदिनके समय, तथा (आतुचि) सायंकालके समय (विश्ववेदसः) सर्वज्ञ ईश्वरका (वामं) वंदनीय स्तोत्र (मनवे) मननके लिये, (प्रचेतसे) चिंतनके लिये और (जुह्वानाय) स्वीकारके लिये (धत्थ) धारण करेंगे, तो आप (अद्य) आजही श्रेष्ठ बनेंगे। तथा—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यं दिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥

ऋ. १०।१५१।५

'प्रातःकालमें, दो प्रहरके समय, तथा सूर्यके अस्त होनेके समय हम सब श्रद्धा देवीकी प्रार्थना करेंगे, कि हे श्रद्धादेवी! हम सबके अंदर श्रद्धा स्थापन करो।'

इस 'श्रद्धा मंत्र' की तुलना पूर्वोक्त 'मेधां सायं' इस 'मेधामंत्र' के साथ कीजिए। तथा 'यदद्य सूर उदिते' इस मंत्रकी पूर्वोक्त इसके सदृश मंत्रके साथ तुलना कीजिए। इन मंत्रोंका भाव प्रायः समान ही है। कुछ थोडीसी विशेषता है जो मंत्रोंके शब्दोंका विचार करनेसे पाठक स्वयं जान सकते हैं। इस प्रकार दिनमें तीनवार उपासना करनेके विषयमें वेदकी संमति है। अब दिनमें दो वार उपासनाका उल्लेख निम्न मंत्रों में देखिए—

दिनमें दो वार उपासना ।

हवे त्वा सूर उदिते हवे मध्यं दिने दिवः ।
जुषाण इन्द्र सप्तभिर्न आगहि ॥

ऋ. ८।१३।१३

"हे (इन्द्र) प्रभो! (त्वा) तेरी (सूर उदिते) सूर्योदयके समय (हवे) प्रार्थना करता हूं। तथा (दिवः मध्यं दिने) दिनके मध्यमें (हवे) प्रार्थना करता हूं। हमारे (सप्तभिः) सातों इंद्रियों द्वारा (जुषाणः) सेवन किया हुआ तू (नः) हमारे पास (आगहि) आओ।"

यद्यपि इस मंत्रमें केवल दो वार उपासनाका उल्लेख है तथापि यह मंत्र तीन वारकी उपासनाका निषेध करनेवाला नहीं है । यह बात स्पष्ट है क्योंकि केवल प्रकाशके समयकी उपासना इस मंत्रमें वर्णित होनेके कारण केवल दो वारका उल्लेख इस मंत्रमें होना अत्यंत स्वाभाविक है । इसी प्रकारका निम्न मंत्र देखीए—

प्रातर्देवीमदितिं जोहवीमि मध्यंदिन उदिता सूर्यस्य ।
राये मित्रावरुणा सर्वतातेळे तोकाय तनयाय शंयोः ॥

ऋ. ५।६९।३

"मैं (देवीं अ–दितिं) स्वतंत्रता देवीकी (प्रातः) प्रातःकालमें (जोहवीमि) उपासना करता हूं। तथा (सूर्यस्य उदिता) सूर्योदयके पश्चात् (मध्यं दिने) मध्यदिनमें उपासना करता हूं । (सर्व–ताता) सबकी उन्नतिके व्यापक कर्मोंमें, जिससे (तोकाय तनयाय) बालबच्चोंको (शं–योः) आराम और आरोग्य प्राप्त होता है उस प्रकारके यज्ञमें, (राये) ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये मित्र और वरुणकी (ईळे) स्तुति प्रार्थना और उपासना करता हूं।

इस मंत्रमें 'अ–दिति' देवीकी दो वार उपासना प्रतिदिन वर्णन की है। 'दिति' का अर्थ Bondage, बंधन, दासत्व, प्रतिबंध, खंडन है। अर्थात् 'अ–दिति' का अर्थ freedom, स्वाधीनता, स्वातंत्र्य, बंधन रहित होना, दासभावसे दूर होना, अखंडनीयताका धारण करना इत्यादि है। वैयक्तिक स्वाधीनताका तथा सामाजिक, सामूहिक अथवा सार्व-

जनिक स्वातंत्र्यका विचार दिनमें अवश्य करना चाहिए; क्योंकि स्वातंत्र्यके विचारसे, अर्थात् मुक्तिके मननसे ही, मनुष्यके अंदर बंधन दूर करनेके भाव आते हैं और येही भाव मनुष्यत्वका विकास करनेवाले हैं । अस्तु । इस प्रकार दिनमें दो वार ध्यान करनेका उपदेश वेदमें है । परंतु स्मरण रहे की यह पूर्वोक्त तीन वारके उल्लेख का विरोधक नहीं है । इसका हेतु पूर्व स्थलमें दिया ही है । अब चार वार उपासनाका उल्लेख देखिए—

प्रतिदिन चार वार उपासना ।

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा ।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥

अथर्व. ११।२।१६

"(भवाय) सबके उत्पादक और (शर्वाय) दुःख निवारक ईश्वरके लिये सायंकाल, प्रातःकाल, रात्रिके समय तथा दिनके समय मैं नमन (अकरं) करता हूं ।" अर्थात् (१) प्रातः–प्रातःकालके समय, (२) सायं–सायंकालके समय, (३) दिवा–दिनके मध्यमें, तथा (४) रात्र्या–रात्रिके समय, इस प्रकार प्रतिदिन चार वार सर्व जगन्नियंता परमेश्वरको नमन करना चाहिए ।

"सायं, प्रातः, दिवा, रात्र्या"! ये चार शब्द चार विभागोंके बोधक हैं । योगी जन जो विशेष प्रकारसे आत्मिक उन्नति चाहते हैं वे चार वार योगाभ्यास करते हैं । ये चार समय योगके पुस्तकोंमें प्रसिद्ध हैं । विशेष पुरुप जो इसी योगाभ्यास आदिको करना चाहते हैं, उनके लिये प्रतिदिन चार वार अभ्यासपूर्वक ध्यानधारणा करना योग्य है । परंतु जो लौकिक व्यवहारमें पडे हैं, और लौकिक व्यवहारका साधन करते हुए आत्मिक उन्नति धीरे धीरे करना चाहते हैं, उनके लिये प्रतिदिन तीन अथवा दो वार उपासना लिखी है । ऐसा इन मंत्रोंका विचार करनेसे प्रतीत होता है ।

इन वेद मंत्रोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि प्रतिदिन दो, तीन और चार वार उपासना करनेका उल्लेख वेदमें है ।

(१) प्रातःकाल, (२) दोपहर, दिनका मध्य समय, (३) सायंकाल और (४) रात्रिका समय; ये चार उपासनाके समय हैं। दिन पुरुषार्थका समय है और रात्री आराम और विश्रामका समय है। पुरुषार्थ करनेका प्रारंभ करनेके पूर्व ईश्वरोपासना करके मन प्रशांत और उदात्त बनाकर विविध पुरुषार्थ करनेका प्रारंभ करना उचित है, प्रातःकालसे दिनके मध्य तक अपना कार्यव्यवहार करनेके पश्चात् थोडे समयमें ईश्वर उपासना करनेसे जो उत्साह और आनंद प्राप्त होता है, उससे दिनके शेष समयमें अपना कार्यव्यापार करनेके लिये निःसंदेह मनकी योग्यता और कार्यक्षमता अधिक होनी है। प्रातःकालकी संध्यासे दिनके पुरुपार्थ शुद्ध रीतिसे करनेके लिये मनकी तैयारी होती है, इसी प्रकार सायंकालकी संध्योपासनासे रात्रीका आराम और विश्राम प्राप्त करनेकी योग्यता उपासकके मनमें उत्पन्न होती है। इस लिये कमसे कम प्रातःकालमें और सायंकालमें अर्थात् दिनमें दो वार अवश्य संध्योपासना करना चाहिए, ऐसी शास्त्राज्ञा और परिपाठी भी है। दोसे अधिकवार संध्योपासना करनेका कहीं भी निषेध नहीं है और उक्त मंत्रोंमें अधिक वार उपासनाकी स्पष्ट सूचना है। इस लिये प्रतिदिन दोवार आवश्यक और तीन अथवा चार वार ऐच्छिक संध्योपासना करना वेदानुकूल है।

यद्यपि मंत्रोंके आधारसे मैने पूर्वोक्त अनुमान किया है तथापि इस विषयमें अधिक खोज होनेकी आवश्यकता है। स्वाध्यायशील पाठकोंको उचित है कि वे उस विषयका विचार निष्पक्षपात होकर वैदिक दृष्टिसे करें, और वेदमंत्रोंके आधारसे जो पद्धति स्पष्ट सिद्ध होती है, उसको मानें क्यों कि वैदिक पद्धति ही सब मनुष्योंका सच्चा हित करनेवाली है। दुराग्रहसे धर्मका नाश होता है और निष्पक्षपातपूर्वक सुविचारके अनुष्ठानसे धर्मका परिपालन होनेके कारण सब मनुष्योंकी उन्नति होती है।

(४) संध्या कहां करनी चाहिए?

संध्या करनेके लिये किसी विशेष स्थानादिकी आवश्यकता है या नहीं? यह आशय इस प्रश्नका है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत ॥ १५ ॥ यजु. २६।१५

"(उपह्वरे) पहाडोंकी भूमीपर, और नदियोंके संगमपर बैठकर (वि-प्रः) ज्ञानी लोक (धिया) धारणायुक्त बुद्धिसे (अजायत) उन्नतिको प्राप्त करते हैं।" अर्थात् धारणाध्यान आदि करने के लिये पहाडोंके सुंदर स्थान, तथा नदियोंके मनोहर संगम बहुत लाभदायक होते हैं। ज्ञानी लोक यहां बैठकर योगसाधन करते हुए आत्मिक उन्नतिको प्राप्त करते हैं। यह बात यहां सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है, कि पहाडोंके गंभीर दृश्य और नदियोंके आल्हादकारक स्थान चित्तकी एकाग्रता करनेके लिये बहुत सहायता कर सकते हैं। इन स्थानोंमें स्वभावतः विशालता, गंभीरता, और प्रसन्नता होनेके कारण मनकी एकाग्रता होनेमें बहुत सहायता होती है।

सुंदर उद्यान, मनोहर तालाव, प्रशस्त और रमणीय वाटिका आदि स्थानोंमें भी पूर्वोक्त प्रकार सुगमतासे मन उपासनामें लीन हो सकता है। परंतु सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये सदासर्वदा इस प्रकारके स्थान ईश्वरोपासना करनेके लिये प्राप्त होना बहुत कठिन है, इस लिये अपने घरमेंही योग्य और पवित्र स्थान संध्याहीके लिये बनाना आवश्यक है। जो कमरा स्वच्छ, पवित्र, सुंदर और रमणीय बनाया जा सकता है, जो केवल संध्याके लिये ही रखा जा सकता है, जिस में विषयोपभोग आदि कृत्य किये नहीं जाते, जो शीतोष्णकालोंमें विशेष शीत और विशेष उष्ण नहीं होता, जिसमें चूहे आदिके बनाये बिल आदि नहीं हो सकते, इस प्रकारका कमरा केवल संध्योपासनाके लिये रखना चाहिए।

यदि अपने घरके चारों ओर बाग, उद्यान अथवा पुष्पवाटिका हो तो बहुत अच्छा है। परिस्थितिके वशात् न हो, तो नगरके बाहर कोई ऐसा रम्य स्थान हो, उसका उपयोग करना चाहिए। इनके अभावमें अपने घरका कमरा संध्याके लिये सजाना चाहिए, क्योंकि जहां इच्छा हो बैठकर जिस किसी समयमें संध्याके मंत्र पढनेसे संध्याका वास्तविक आनंद प्राप्त नहीं हो सकता।

अपने घरका कमरा यदि उत्तर दिशाकी ओर होगा तो बहुत अच्छा है, क्यों कि घरका उत्तर दिशाका भाग गर्मीमें बहुत नहीं तपता। इस

कमरेके लिये विशेषकर पूर्व पश्चिमकी ओर प्रशस्त खिडकियां रहनीं चाहिए, जिससे सूर्योदय सूर्यास्तकी अभिनंदनीय शोभाका आनंद उपासकको प्राप्त हो सके। यह कमरा अंदर और बाहरसे स्वच्छ, सुंदर और पवित्र बनाना चाहिए। अंदरके कोने, जमीन, दीवार और छत निर्मल रखनेका यत्न सदा करना चाहिए। बाहरसे भी किसी प्रकारका मलिनता युक्त वायु आदि न आने पावे। अर्थात् मल—मूत्र विसर्जन करनेके स्थान तथा दूसरे दुर्गंधके स्थान पास न हों। इस प्रकारका कमरा केवल संध्याहीके लिये रखना चाहिए। अर्थात् इस कमरेके अंदर ऐसे ही पदार्थ रखे जावें कि जिनका उपयोग परमेश्वरके भजनपूजन हीके काममें होता है। इस कमरेकी दीवारोंकी सजावटके लिये वेदमंत्रोंके उत्तम वाक्य, तथा साधुसत्पुरुषोंके उपदेशवाक्य सुंदर अक्षरोंमें लिख कर लगाने चाहिए। जिस किसी दिशामें दृष्टि जावे उस स्थानमें उपदेशके ही वाक्य नजर आना चाहिए। इस कमरेके लिये चित्रोंकी सजावटकी भी बडी आवश्यकता है। चित्रोंका महत्व उपदेशके कामके लिये बहुत है; क्यों कि पढे लिखे आदमीही ग्रंथ पढ सकते हैं, परंतु चित्रोंको तो अनपढ मनुष्यभी समझ सकते हैं।

पूर्व दिशाकी दीवार पर ऐसे चित्र रखने चाहिए कि जिनमें सूर्यका उदय, छोटे उत्साही बालकोंकी क्रीडा, प्रफुल्लित वृक्ष आदिके चित्र हों, अर्थात् जो उत्साह, जागृति और उदयकी सूचना कर सकते हैं। यह इस लिये कि पूर्वदिशा जागृतिकी दिशा समझी जाती है। दक्षिण दिशा की दीवार पर शूरवीर क्षत्रिय आदिके चित्र हों, जो अपने दाक्षिण्यमय व्यवहारसे मृत्युकी पर्वाह न करते हुए जनताकी उन्नतिके लिये अपने आपको समर्पण कर रहे हैं, मृत्युका चित्र इसी ओर रखना चाहिए; जिसमें प्राणिमात्रके मृत्युका स्पष्ट निदर्शन किया गया हो। अपने पीछे मृत्यु लगा है इस बातका स्मरण होवे, तथा परोपकारके कर्म करते हुए मरना चाहिए, यह भाव मनमें स्थापन हो सके; ऐसे चित्र यहां लगाना उचित है। पश्चिम दिशाकी ओर ऐसे चित्र लगाने चाहिए कि, जिनमें शांत समुद्र, पानीके रम्य नहर, नदी, तालाव आदिके दृश्य हों, धनधान्य, फलफूलकी समृद्धि आदि दिखाई हो। उत्तर दिशाकी दीवार पर ऐसे चित्र

लगाने चाहिए कि जिनमें प्रयत्नसे उन्नति प्राप्त करनेका भाव स्पष्ट होता है, अधिक उच्च अवस्था प्राप्त करनेके लिये सत्पुरुष जो जो प्रयत्न करते हैं, उनकी सूचना इन चित्रोंसे मिल सके । साधुसत्पुरुष, जो आत्मिक उन्नतिमें निमग्न रहते हैं, उनके चित्र यहां रखे जावें । पाठक यहां ध्यान देंगे कि दक्षिण दिशामें क्षात्र तेज और मृत्यु दर्शाया गया है और उत्तर दिशामें ब्राह्मतेज और आत्मिक आनंद दर्शाया है । पूर्व दिशामें जागृति और पुरुषार्थ करनेका उत्साह बताया है, तथा पश्चिम दिशामें निवृत्ति और आरामका प्रदर्शन किया है । अलंकारकी दृष्टिसे ये दिशायें इन बातोंकी सूचनाएं देतीं हैं, इस बातका ज्ञान विचारसे पाठक जान सकते हैं । यदि छतपर चित्र लगाने हो तो ऐसे चित्र होने चाहिए कि, जिनमें दिव्य आत्मिक शक्ति मनुष्योंको प्राप्त होकर उनका उद्धार हो रहा है । ऐसे उत्तम दृश्य साधारण घरोंमें छतपर नहीं रखे जा सकते । जो बडे बडे धनिकोंके प्रासाद होते हैं उनमें ही इस प्रकारके चित्र छतपर होना संभव है । दीवारोंपर इन चित्रोंके अतिरिक्त उत्तम उत्तम संस्मरणीय वाक्य, बोधदायक मंत्र अथवा उपदेशपरके शब्द लिखना चाहिए । तात्पर्य यह कि कमरेके अंदर आत्मिक उन्नतिका वायु–मंडल बनानेका यत्न करना चाहिए । और ऐसे कोई पदार्थ नहीं रखना चाहिए कि जो इस वायुमंडलको दूषित कर सके ।

इस देवघरके अंदर पुस्तक, बर्तन, तथा अन्य सामान उतनाही रखना चाहिए, कि जिसका उपयोग उपासनाहीके काममें हो सकता है । स्नान करके धोये हुए स्वच्छ कपडे पहन कर ही इस कमरेके अंदर प्रवेश करना चाहीए । और प्रवेश करनेके समय यह विचार मनमें दृढ रखना चाहिए कि, "मैं पवित्र स्थानपर जा रहा हूं, मेरे पास कोई अपवित्र विचार नहीं रहेगा, अब मेरे आत्माका परमात्माके साथ योग होगा ।" इस प्रकारकी मनमें भावना रखकर ही कमरेके अंदर प्रवेश करना चाहिए । मनकी भावनाका परिणाम बहुत विलक्षण होता है । कमरेके अंदर जाते ही द्वार बंद करके अपनी उपासना प्रारंभ करनी चाहिए, और इससमय कोई अन्य विरुद्ध विचार मनमें धारण करना उचित नहीं है । क्योंकि विषम विचार सब आनंदका घात करता है ।

उक्त प्रकारका स्थान संध्या करनेके लिये न मिलनेकी अवस्थामें जो कोई स्थान प्राप्त होगा, उसीमें बैठकर संध्या करना योग्य है। अपने नियत समयका अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। तथा मेरा विश्वास है कि हरएक अवस्थाका मनुष्य यदि प्रयत्न करेगा, तो अपने योग्य एकान्तका स्थान संध्याके लिये अपने घरमें बना सकता है। परंतु प्रयत्न निश्चयसे करना चाहिए। शहरोंके तंग मकानोंमें रहनेवाले गरीब मनुष्योंके लिये बडी मुश्किल हो सकती है। परंतु ग्रामोंमें रहनेवाले सुगमतासे अपने स्थान बना सकते हैं। शहरनिवासियोंके लिये सार्वजनिक 'संध्या मंदिर' बनने चाहिए, जहां लोक जाकर संध्या कर सकें।

(५) संध्याका समय और स्थान।

संध्याका समय और स्थान निश्चित होना उचित है। अपने भारत देशमें प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तका समय सबसे अच्छा है, सायंकालका सूर्यास्तका समयभी उत्तम है। आजकल सायंकालमें भ्रमण आदिके लिये लोक जाते हैं, इसलिये सायंकालका सूर्यास्तका समय बहुत करके लुप्त हो गया है। परंतु उक्त दो समय यदि अतिक्रांत न होंगे तो बडा अच्छा है।

ब्राह्ममुहूर्तका समय इतना अच्छा है कि इस समय यमनियम आदि स्वयंसिद्ध होते हैं। इस समयमें हिंसा कोई नहीं करता, दूसरे मनुष्यके साथ संबंध न होनेके कारण असत्य बोलनेका अवसर नहीं होता है, चोरभी अपनी चोरीसे निवृत्त होते हैं, कामी पुरुष अपने कामोपभोगसे निवृत्त होते हैं, इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि सब यमनियम स्वयंसिद्ध रहनेके कारण सब वायुमंडल अशुद्ध विचारोंसे अदूषित रहता है। इसलिये यह समय सबसे उत्तम समझा गया है।

यदि किसी मनुष्यको कोई अन्य समय अनुकूल प्रतीत होता हो, तो वह अपनी अनुकूलताके अनुसार अपना समय और स्थान निश्चित करे और उसी समयमें तथा उसी स्थानमें बैठकर संध्या करे। आज सवेरे, कल दोपहरको, परसूं किसी अन्य समयमें, इस प्रकार समय और स्थानका परिवर्तन करनेसे मनकी वृत्ति चंचल होती है। स्थान और समयका नियम चित्तवृत्तिकी स्थिरता करनेमें निःसंदेह सहायता देता है। सर्वत्र अनियमसेही चंचलता बढती है।

यहां पाठकोंको एक बातकी सूचना देना आवश्यक है कि, नियमोंके पालन करनेके अभ्याससेही मनुष्योंकी उन्नति हो सकती है अन्यथा नहीं। तमाखू, मद्य आदि दुर्व्यसन करनेवाले मनुष्य अपने नियत समय परही अपने दुर्व्यसनके पदार्थोंको चाहते हैं । नियत समय पर अफीम न मिलनेसे अफीमबाज दुर्व्यसनी मनुष्य कैसे पागल हो जाते हैं, यह सबको विदित है । इससे ज्ञात हो सकता है कि समयके नियमका प्रभाव मन पर कितना है । दुर्व्यसनोंके विषयमें दुराचारी मनुष्योंके मनकी जो अवस्था होती है वही अवस्था सदाचारी मनुष्योंकी सत्कृत्योंके विषयमें होती है । क्यों कि दोनोंके मनोंके धर्म समान ही होते हैं ।

ठीक समय पर संध्या करनेके, निष्ठा और श्रद्धायुक्त, अभ्याससे उपासनामें मन इतना जम जाता है, कि किसी कारण किसी दिन समयका अतिक्रमण होने लगा, तो मन अस्वस्थ होता है । संध्याके समयका अतिक्रमण होनेसे अकृत्रिम अस्वस्थता मनमें उत्पन्न होनी चाहिए । मानसिक उन्नतिकी यह एक सीढी है । इसलिये हरएक मनुष्यको जहांतक हो सके वहांतक संध्याके समय और स्थानका नियम करना योग्य है । जो मनुष्य सदा भ्रमण करते रहते हैं, उनके लिये स्थानका नियम करना अशक्य है, परंतु वे समयके नियमका पालन कर सकते हैं । यदि प्रसंगवशात् समयका नियम टूटने लगेगा, तो एक दो मिनिटतक ठीक समय पर आंख बंद करके '**गुरुमंत्र**'का जप करनेसे समयके नियमका पालन होनेमें बडी सहायता होती है । ऐसी अवस्थामें समय प्राप्त होनेपर पूर्ण संध्या की जा सकती है । रेलमें अथवा सभामें बैठनेके समय इस युक्तिसे निर्वाह हो सकता है ।

(६) संध्यामें आसनका प्रयोग ।

अष्टांग योगमें '**आसन**' तीसरा अंग है । आसनोंसे शरीरकी नसनाडियोंकी शुद्धि और सब शरीरमें रुधिरका उत्तम संचार होनेसे शरीरका उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होता है । इसलिये संध्या करनेसे पूर्व विविध प्रकारके आसन अवश्य करना चाहिए । आसनोंके दो प्रकार हैं । (१) एक नीरोगता देनेवाले आसन और (२) दूसरे ध्यान धारणाके साधक आ-

सन । नीरोगता देनेवाले आसन अनेक हैं । ध्यानधारणाके साधक आसन दो चार ही हैं । 'आसन' विषयपर स्वाध्यायमंडलद्वारा सचित्र पुस्तक तैयार हो रहा है । उसमें इस विषयका विस्तारपूर्वक विचार किया है, इसलिये यहां इसपर विस्तार पूर्वक लिखना उचित नहीं है ।

केवल ध्यानके लिये आरामके साथ निश्चिंत बैठनेकी आवश्यकता है । बैठनेके लिये जमीनपर चौकी आदि रखकर, उस पर चटाई किंवा दर्भका आसन, उसपर ऊनी आसन, और उसपर सफेद निर्मल सूती चादर रखना चाहिए । जिससे आसन नरम और बैठनेके लिये आनंददायक होता है । केवल ऊनी कपडा खुर्दरा होनेसे सूती चादरके विना ठीक नहीं होता । आसन नरम और बैठनेके लिये हितकारक होना चाहिए ।

इसपर विशेष रीतिसे बैठना योगसाधनमें 'आसन' नामसे प्रसिद्ध है । सिद्धासन, पद्मासन आदि आसन प्रसिद्ध हैं कि जो ध्यानधारणाके लिये ही हैं । ध्यानधारणाके समय हाथ घुटनोंपर रखना अथवा बीचमें एक दूसरेपर जोडकर रखना वैयक्तिक रुचीपर निर्भर है । परंतु सबसे मुख्य बात यह है कि, पीठ, गर्दन और मस्तक समरेखामें होना चाहिए । अर्थात् यदि दीवारके साथ बैठा जाए तो पीठ, और सिर पीछेसे दीवारको लगना चाहिए और गला सीधा रहना चाहिए । इसका तात्पर्य इतनाही है कि, पीठके सूल, पिंडलीकी हड्डियोंकी माला, रीढ की हड्डियां, समरेखामें रहनी चाहिए ।

पीठ टेढी रखकर योगका साधन नहीं हो सकता । इसलिये योगी सदा सर्वदा अपनी पीठकी हड्डियोंको सीधा ही रखते हैं । बैठने, चलने, सोने, आदी समय रीढकी हड्डियोंको समसूत्रमें रखते हैं । जो मस्तकके मगजमें शक्ति रहनी है वह ही रीढकी हड्डियोंमें फैली है । इसलिये पीठकी रीढमें टेढे पन होनेसे न केवल विविध बीमारियां ही होतीं हैं परंतु बुद्धिकी धारणाशक्तिका भी न्हास होता है । इसलिये 'समं काय-शिरोग्रीवं ।' (गीता) शरीर सिर और गर्दन समरेखामें रखकर योगसाधन करना चाहिये, ऐसा भगवद्गीतामें स्पष्ट कहाहै । इस प्रकार सीधी पीठसे बैठनेके अभ्याससे आरोग्य प्राप्त होता है तथा बुद्धि की भी वृद्धि

होती है । इसप्रकार बैठकर ध्यानधारणा करना उचित है । कई लोक पीठको गोल करके संध्या करने बैठते हैं जिससे उनके स्वास्थ्यका तथा बुद्धिका बडा नुकसान होता है । इसलिये पीठको समसूत्रमें रखकर संध्या करना उचित है । अन्य आसनोंका विचार स्वतंत्र पुस्तकमें देखिए ।

(७) प्राणायामका महत्त्व ।

संध्यामें प्राणायामका महत्त्व बडा भारी है । प्राणायाम, उत्तम प्रकारके आसनोंके साथ, सिद्ध होनेसे, मृत्युको दूर किया जा सकता है अर्थात् प्राणायामसे आरोग्य प्राप्त होकर दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है ।

प्राणायामसे फेफडोंमें शुद्ध हवा पहुंचती है वहां रक्तके साथ, उसका संबंध होकर, रक्त शुद्ध होता है. और रक्त शुद्ध होनेसे सब प्रकारकी नीरोगता प्राप्त हो सकती है ।

प्राणका मनके साथ निकट संबंध है । प्राणकी चंचलताके साथ मन चंचल होता है, और प्राणकी स्थिरतासे मन स्थिर होता है । इस कारण मनकी एकाग्रताके लिये प्राणके स्वास्थ्यकी बडीभारी आवश्यकता है । यही प्राणायामका महत्त्व है । अर्थात् प्राणायाम न केवल शारीरिक आरोग्य अर्पण करता है प्रत्युत मानसिक उन्नतिका भी मार्ग खोल देता है ।

प्राणायाम करनेके समय मनकी भावना ऐसी करनी चाहिए कि "मैं प्राण अंदर लेनेके समय विश्वव्यापक प्राण शक्तिको अंदर लेता हूं । यह विश्वव्यापक प्राणशक्ति मेरे अंदर आकर सब प्रकारका स्वास्थ्य, आरोग्य, आयु और आनंद दे सकती है । यह परमात्माकी दिव्यशक्ति है, और इससे सब प्रकारकी उन्नति हो सकती है ।" प्राणायाम करने तक इस प्रकारकी मानसिक भावना विश्वासपूर्वक धारण करना उचित है । अविश्वासी मनुष्यको उन्नतिकी आशा करना व्यर्थ है । संशयका धारण करनेवाला नाशको प्राप्त होता है । धर्मकी शक्ति श्रद्धामय अंतःकरणके अंदर ही बढती है । इसलिये संध्याके समय श्रद्धा अवश्य अपनेपास करनी चाहिए ।

प्राणायामका विस्तार पूर्वक सचित्र पुस्तक तैयार हो रहा है । पाठक उसमें प्राणायामकी विशेषताको देख सकते हैं ।

(८) संध्याकी अन्य विधियां।

आचमन, इंद्रियस्पर्श, मार्जन, अघमर्षण, मनसा परिक्रमण, उपस्थान, गुरुमंत्रजप, नमन इतनी विधियां संध्यामें आसन प्राणायामोंके अतिरिक्त हैं। हरएक विधिका तात्पर्य मनकी शुद्धि, मनमे उत्तम श्रेष्ठ विचारोंकी स्थापना, मनकी स्वाधीनता और एकाग्रता, मनकी शांति, चित्तकी प्रसन्नता, बुद्धिके विकासका साधन करके आत्मोन्नति प्राप्त करनेमें है।

आचमनसे कंठकी शुद्धि होती है; **इंद्रियस्पर्श** करनेसे प्रत्येक इंद्रिय और अवयवके विषयमें अपना कर्तव्य पालन करनेकी जागृतिकी सूचना मिलती है; **मार्जनसे** अंतर्बाह्य शुद्धताके विचारकी जागृति होकर दोषोंको दूर करनेकी शक्ति प्राप्त होती है; **अघ-मर्षणसे** अपने किये हुए दोषोंको स्वीकार करनेका धैर्य प्राप्त होकर स्वकीय दोषोंका दंड आनंदके साथ भोगनेकी मनकी तैयारी होनेके कारण सदैव चित्तकी प्रसन्नता रहती है; **मनसा परिक्रमणसे** सर्व सृष्टिका मानसिक विचार–शक्तिसे अवलोकन होनेके कारण सर्व सृष्टिमें परमेश्वरीय न्यायप्रवर्तक शक्तिका अनुभव प्राप्त होता है, और सत्पुरुषोंका सन्मान करने तथा दुर्जनोंका तिरस्कार करनेकी न्यायप्रियता मनके अंदर विकसित होती है; **उपस्थानमें** उसी परमेश्वरकेपास पहुंचनेकी साधनरूप उपासनाका कार्य है; **गुरुमंत्रजपमें** उस दिव्य परमात्माकी दोष–विनाशक और सर्व प्रेरक शक्तिका ध्यान है, जिस जपसे परमेश्वरीय शक्तिका निदिध्यास होनेसे जीवात्मामें परमेश्वरीय श्रेष्ठ गुणोंकी स्थापना होती है। अंतमें **नमन** द्वारा सब संध्योपासनाकी समाप्ति होती है। इस प्रकार संध्याका तात्पर्य है। इस प्रत्येक विधिका विस्तृत स्पष्टीकरण आगे आनेवाला है, जिसको देखनेसे पाठक जान सकेंगे कि इस प्रत्येक विधिमें कितने उच्चभाव हैं और इन विधियोंसे मनुष्योंकी उन्नति किस प्रकार हो सकती है।

(९) विशेष दिशाकी ओर मुख करके ही संध्या करनी चाहिए या नहीं?

विशेष दिशाकी ओर मुख करनेसे कोई लाभ हो सकता है या नहीं? यह प्रश्न बडा विकट है। शीघ्रतासे इसका उत्तर देनेका साहस मैं नहीं

३४,८०३

कर सकता। कुतुबनुमा जो कि लोहचुंबककी सुई होती है, सदा उत्तर दक्षिण दिशाकी ओर ही रहती है। लोहचुंबककी सुई जडपदार्थ है, मनुष्यके समान उसमें इच्छा आत्मशक्ति और मनन शक्ति नहीं है। इस प्रकारके जड पदार्थको सदा नियममें रखनेवाली एक शक्ति उत्तर दक्षिण दिशामें सदा संचार करती रहती है, जिसके कारण चुंबककी सुई सदा दक्षिण उत्तर दिशामें ही रहती है। यदि जड पदार्थोंको इस प्रकार स्वाधीन रखनेवाली शक्ति उत्तर दक्षिण दिशाओंमें विद्यमान है, तो संभव है कि इस शक्तिका मनुष्यपर भी कुछ न कुछ परिणाम होता हो, क्यों कि मनुष्यका मन बिजुलीसे बना है, और उत्तर दक्षिण भ्रमण करनेवाली उक्त शक्ति बिजुली ही है जो उक्त चुंबक सुईको दक्षिणोत्तर रखती है।

सूक्ष्म शक्तियां इस जगतमें बहुत हैं। जिनका परिज्ञान मुझे नहीं है। इस समयतक विद्युत आदि अनेक सूक्ष्म शक्तियोंका ज्ञान वैज्ञानिकोंको हुआ है, परंतु उनका मनुष्यके ऊपर क्या परिणाम होता है, इस विषयका ज्ञान इस समयतक पूर्णतया किसीको नहीं है। जिस प्रकार उत्तर दक्षिण दिशामें विद्युत्‌का प्रवाह चलता रहता है, उस प्रकार अन्य दिशाओंसे किसी अन्यशक्तिका वेग चलता है वा नहीं उसका ज्ञान अभीतक किसीको नहीं है। कई कहते हैं, कि पृथ्वीके पूर्व पश्चिम दैनिक भ्रमणके कारण इन दिशाओंमें भी कुछ विशेष शक्तियोंका उत्कर्ष अपकर्ष होना संभव है। परंतु यह सब तर्क ही है। प्रत्यक्ष ज्ञान इस विषयमें अभीतक किसीको प्राप्त नहीं हुआ। इस लिये विशेष दिशाकी ओर मुख करनेका कोई विशेष परिणाम मनुष्य पर होता है वा नहीं, यह निश्चय नहीं कहा जा सकता। इस विषयमें विशेष खोज होनेकी आवश्यकता है।

शास्त्रग्रंथोंमें उत्तर और पूर्वदिशाकी ओर ही मुख करनेकी आज्ञा है। दक्षिण दिशाकी ओर मुख करनेकी आज्ञा किसी धर्म पुस्तकमें नहीं है। सायं संध्याके अतिरिक्त अन्य कोई धार्मिक कार्य पश्चिमदिशाकी ओर मुख करके करनेकी आज्ञा किसी धर्म पुस्तकमें नहीं है। मेरे विचारसे इसका कोई विशेष हेतु होगा, परंतु उसको मैं नहीं जानता।

कई कहते हैं कि पूर्वदिशाकी ओर मुख करनेसे अपनी छाया पीठकी ओर पीछे पडती है, इसलिये सूर्यकी ओर देखकर संध्या करनेका विधान

है। सवेरे पूर्वदिशाकी ओर और शामको पश्चिमदिशाकी ओर मुख इसीलिये किया जाता है। कई बडे विद्वान अपने व्याख्यानों तथा लेखोंमें यह हेतु बताते हैं। परंतु यह कोई विशेष हेतु नहीं हो सकता। वास्तवमें देखा जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि सूर्यके द्वारा जो प्राणशक्ति सब जगतमें फैलाई जा रही है, उस प्राणशक्तिको मानसिक इच्छा शक्तिके द्वारा अपने अंदर लेनेकी सुगमता होनेके लिये ही सूर्यकी ओर मुख किया जाता है, न कि अपनी छायाको पीछे रखनेके लिये। मेरे विचारसे पूर्व पश्चिम दिशाकी ओर प्रातःसायं संध्याके समय मुख करनेका यही हेतु है। कदाचित् और भी कोई प्रबल हेतु हो। खोज करनेसे ज्ञात होना संभव है।

पूर्व पश्चिम दिशाकी ओर मुख करनेकी असंभावना होनेके समय दोनों कालमें उत्तर दिशाकी ओर मुख करनेकी विधि है। इसका हेतु अबतक मेरे ध्यानमें नहीं आया है। भौतिक दृष्टिसे दक्षिण दिशाकी ओर शक्तिकी क्षीणता और उत्तर दिशाकी ओर शक्तिकी अधिकता प्रतीत होती है। दक्षिण देशमें लोक कमजोर हैं और उत्तर दिशामें बलवान हैं। मनुष्योंके चालचलन, खानपान, और सबलता निर्बलता आदिका संबंध उत्तर और दक्षिणदिशाके साथ कुछ विशेष प्रकारसे है ऐसा प्रतीत होता है। सर्व साधारण अशक्तता दक्षिण दिशामें प्रतीत होती है और सर्वसाधारण सबलता उत्तर दिशामें दिखाई देती है। कश्मीरके लोक सबल और गोरे तथा मद्रासके लोक निर्बल और काले हैं। इसी प्रकार अन्य भेदभी बहुत हैं।

कोई कारण हो, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि, उत्तर दिशाकी ओर उत्तमताका प्रमाण अधिक है और दक्षिण दिशाकी ओर वैसा नहीं है। जो इसमें अज्ञात कारण होगा उसी कारणसे उत्तर दिशाकी ओर मुख करनेकी आज्ञा शास्त्रोंमें दी होगी।

संभव है कि कोई विशेष कारणभी हो। यदि कोई विद्वान् कोई अन्य कारण प्रदर्शित कर सकते हैं तो अवश्य प्रकाशित करें। वेदमें दिशा विषयक कई मंत्र संदिग्ध हैं, उनका स्पष्टीकरण इन बातोंके परिज्ञानसे

कदाचित् होना संभव है । आशा है कि विचारशील विद्वान् इस विषयकी खोज करेंगे ।

(१०) स्वभाषामें संध्या क्यों न की जावे ?

परमेश्वरकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना हरएक भाषामें की जा सकती है । यह कोई नहीं कह सकता, कि केवल संस्कृत भाषाके शब्दोंसे तथा मंत्रोंसे की हुई स्तुति प्रार्थना ही परमेश्वर जान सकता है, अन्य भाषाके द्वारा की हुई नहीं जान सकता । परमेश्वर सर्वव्यापक और सर्वज्ञ होनेसे तथा जीवात्माके साथ उसका साक्षात् संबंध होनेसे शब्दोच्चारके पूर्वही मनोगत भावोंको वह जान सकता है । इससे स्पष्ट है कि उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना हरएक मनुष्य अपनी अपनी जन्मभाषामें कर सकता है । यदि वास्तवमें ऐसी बात है, तो वेदमंत्रोंका उच्चारण संध्यामें करनेकी क्या आवश्यकता है ? ऐसा प्रश्न यहां उत्पन्न हो सकता है ।

साधारण लोक जो भाषा बोलते हैं, उसी भाषामें साधु संत अपने काव्य करते हैं । तथापि साधारण लोकोंके मुखद्वारा उच्चारित वाक्यों की अपेक्षा, साधुसंतोंके वाक्योंको सहस्रों वर्षोंतक लोक विशेष आदरकी दृष्टिसे स्मरण करते रहते हैं । यहां सोचना चाहिए कि साधुसंतोंकी वाणीसे निकले हुए वाक्योंमें जो पवित्रता और प्रामाण्य सहस्रों वर्षोंतक हजारों पुरुष मानते रहते हैं, यह क्यों ? कौनसी विशेषता उन आप्त पुरुषोंके वाक्योंमें रहती है ?

साधुसंतों और महात्माओंके वाक्योंमें कुछ न कुछ विशेषता है इसमें संदेह नहीं । यदि न होती तो साधारण जनोंके वाक्योंके समान उनको भी कोई न मानता। साधुसंतोंके अंदर जो दिव्य दृष्टि होती है वह साधारण जनों में नहीं होती । इस प्रकार दृष्टिमें भेद रहनेसे वाक्यके अर्थकी गंभीरता में भी विशेष भेद होता है और इसी कारण आप्त पुरुषोंके वाक्योंका अथवा साधुसंतोंके वाक्योंका सर्वत्र विशेष प्रामाण्य समझा जाता है ।

अनुभवकी दृष्टिसेभी संतोंके वाक्योंके शब्द बहुत तुले हुए प्रतीत होते हैं । मेरा यह कथन नहीं है, कि हरएक संतका हरएक वाक्य चिरस्मरणीय है । परंतु साधारण रीतिसे देखनेसे पता लग जाता है, कि

संतोंके वाक्योंमें कुछ न कुछ असाधारणता रहती है। यदि हम साधारण लोकोंकी भाषामें और संतोंके वाक्योंमें भेद जान सकेंगे, तो हमें अपनी भाषामें की हुई स्तुतिप्रार्थना और दिव्य मंत्रोंद्वारा की हुई स्तुतिप्रार्थनाके भेदका पता लग जायगा। ऋषियोंके अंतःकरणोंमें परमेश्वरके स्फुरणसे जो मंत्र आविष्कृत हुए हैं, उनका अर्थगांभीर्य हमारी की हुई स्तुतिप्रार्थनाके वाक्योंमें नहीं आसकता, यह बिलकुल स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त वैदिकमंत्रोंके शब्दोंकी कुछ विशेषता असाधारण ही है। 'आपः' शब्द 'जल' वाचक होता हुआ 'व्यापक परमात्म-शक्ति'का बोधक है इस प्रकारके शब्द प्रयोग जैसे वेदमें हैं, हमारी देशी-भाषामें नहीं हैं।

'आपः' यह एकही शब्द जलका बोध करता हुआ उपासकको परमात्मातक पहुंचा सकता है। वह बात देशीभाषामें नहीं हो सकती। इसलिये अर्थज्ञानपूर्वक वेदमंत्रों द्वारा कीहुई संध्या निःसंदेह विशेष लाभ दे सकती है। वह लाभ केवल मंत्रके भाषांतरसे भी नहीं हो सकता।

संध्याके मंत्रोंमें केवल स्तुति प्रार्थनाके अतिरिक्त जो अन्य बातें हैं, उन सबका कार्य देशी और प्रांतीय भाषाके भाषांतरोंसे नहीं हो सकेगा। अथवा हमारी स्वकीय स्तुति प्रार्थनासे तो कभी नहीं होगा।

श्रेष्ठ विचारोंको मनके सन्मुख रखनेका साधन जैसा वेदमंत्रोंद्वारा हो सकता है वैसा किसी अन्य भाषाके वाक्यसे नहीं हो सकता। वेदका एक ही वाक्य जैसा विविध उच्चभावोंका प्रदर्शन कर सकता है, वैसा प्रांतीय भाषाका वाक्य नहीं कर सकता। वेदका 'इंद्र' शब्द 'जीवात्मा, राजा और परमात्माका' बोध कर सकता है; उसका भाषांतर किसी भाषामें यदि किया जावे, तो उसके ये तीन अर्थ वहां प्रकट होना सर्वथा असंभव है। जो इस प्रकारकी अर्थकी गंभीरता वेदमें है उसी कारण वैदिक मंत्रोंका महत्त्व इस समय तक स्थिर रहा है।

वेदका परिज्ञान होनेके लिये न केवल संस्कृत भाषाके ज्ञानकी आवश्यकता है, प्रत्युत वैदिक विचार सरणीको जाननेकी भी बडी आवश्यकता है। जो लोक इस वैदिक विचार सरणीको नहीं जान सकते, उनको वैदिक मंत्रोंकी उच्चताका ज्ञान देना उतना ही कठिन है, जितना कि गान वि-

द्यासे अनभिज्ञ मनुष्यको बडे गवय्येके गायनके रसास्वादका परिचय देना कठिन है। अस्तु। इस विचारकी दृष्टीसे पाठक जान सकते हैं कि, संध्याके मंत्रोंसे क्या लाभ होता है और देशी भाषामें संध्या करनेसे कहां तक लाभ हो सकता है।

(११) संध्याके विविध भेद।

आजकल संध्यामें विविध भेद हुए हैं। ऋग्वेदी संध्या, यजुर्वेदी संध्या आदि प्रकारसे प्रत्येक वेदके प्रत्येक शाखाकी अलग अलग संध्या मानी और समझी जाती है। विद्यमान शाखाके अनुयायी लोक अपने अपने संप्रदायके अनुसारही संध्या करते हैं। इस कारण संध्या जैसे पवित्र अनुष्ठानमें भी अनंत भेद हो गये हैं!!

वास्तवमें देखा जायगा तो चारों वेदोंको मिलाकरही पूर्ण ज्ञान होता है। प्राचीन कालके आर्योंमें चारों वेदोंका अध्ययन हुआ करता था। प्रत्येक मनुष्यको चारों वेदोंका अध्ययन आवश्यक है। "(१) पवित्र विचार, (२) पवित्र कर्म, (३) चित्त की एकाग्रता और (४) ब्रह्मज्ञान" ये चार विषय क्रमशः चार वेदोंके हैं। इन चारोंके समुच्चयसेही मनुष्यमात्रकी उन्नति साध्य होती है। इस लिये प्रत्येक वेदको अलग अलग मानना, इतनाही नहीं, परंतु हरएक शाखाको भिन्नभिन्न समझना, सर्वथा अनुचित है। इस कारण आजकलके सांप्रदायिक संध्याभेद, अवैदिक होनेसे, मानने योग्य नहीं हैं।

आजकलके संध्याभेदमें 'केशवादि नामोंसे आचमन' किया जाता है। यह संप्रदाय अत्यंत आधुनिक होनेसे निःसंदेह अवैदिक है। सूर्यके लिये अर्घ्य प्रदानकी विधि भी वैसीही अवैदिक है। इसी प्रकार बीसियों आधुनिक श्लोक संध्याके अंदर घुसेड दिये गए हैं जिनका वास्तविक संध्याविधिके साथ कोई संबंध नहीं है। आरण्यक जैसे ग्रंथोंसे उद्धृत श्लोक भी, जो आजकलकी संध्याके अंदर पाये जाते हैं, बडे विलक्षण हैं; देखिए।

उत्तमे शिखरे जाते भूम्यां पर्वत-मूर्धनि।
ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुज्ञाता गच्छ देवि यथासुखम्॥

तै. आ. प्र. १०।३६॥ आश्व. गृ. १

"पर्वतके शिखर पर, पहाडकी चोटी पर अथवा उत्तम भूमिमें जनी हुई देवी! अब तू ब्राह्मणोंसे आज्ञा प्राप्त करके जहां सुख हो वहां जाओ।" गायत्रीको उद्देश करके यह श्लोक बोला जाता है। परंतु यहां विचार इतना ही करना है कि गुरुमंत्रका 'गायत्री छंद' है न कि यहां कोई गायत्री देवी विद्यमान है, जो आती है और जाती है। छंदोंमें गायत्री, हरिणी आदि छंद हैं। इन छंदोंसे प्राणियोंका बोध नहीं लेना है। इसी प्रकार बीसियों श्लोक ऐसे हैं कि जिनका संध्यासे कोई संबंध नहीं है, परंतु आजकलकी सांप्रदायिक संध्यामें पढे जाते हैं। सब श्लोकोंकी अयुक्तता बतानेके लिये हमारे पास यहां स्थान नहीं है, और न इस प्रकारके विवादकी यहां आवश्यकता ही है। एक ही बात ध्यानमें रखनेसे सब कार्यभाग हो सकता है, वह बात यह है कि, जो वेदसंहिताके मंत्र हैं, वे ही संध्योपासनामें रखने योग्य हैं, अन्य श्लोक किसी प्रयोजनके नहीं हैं, इतनाही नहीं परंतु अन्य सांप्रदायिक श्लोक आत्मिक उन्नतिके साधक भी नहीं हैं।

जिसप्रकार उक्त गायत्रीके विषयमें, उसको 'गाय' समझ कर उसका पहाडपरसे आना और फिर वहां जाना लिखा है, उसी प्रकार अन्य श्लोकोंमें भी है। इस लिये सांप्रदायिक संध्यावालोंको भी उचित है, कि वे अपनी संध्यामेंसे अन्य श्लोकोंको अलग करें और केवल वेदके मंत्रोंसे ही संध्या करते जांय।

(१२) यह संध्या वैदिक है वा नहीं?

जो संध्या इस पुस्तकमें दी है यह वैदिक है वा नहीं? यह प्रश्न कई विद्वान् पूछते हैं। यह संध्या सूत्रोक्त है। इसमें यद्यपि 'वाक् वाक्। भूः पुनातु शिरसि।' इत्यादि वाक्य वेदमंत्रके नहीं हैं, तथापि 'वाङ्म आसन्' आदि अथर्ववेदके मंत्रसे उद्धृत होनेके कारण उक्त वाक्य वैदिक ही हैं। क्योंकि प्रत्येक वाक्यका संबंध साक्षात् अथर्ववेदके मंत्रोंसे है। इस बातका पूर्ण वर्णन आगे स्पष्टीकरणमें आनेवाला है। इसलिये यहां केवल दिग्दर्शन कराया है। इनके अतिरिक्त शेष सब मंत्र वेदकेही हैं, इसलिये यह सूत्रोक्त संध्या शुद्ध वैदिक संध्या है।

कई कहते हैं कि 'वाक् वाक्। भूः पुनातु शिरसि।' आदि वाक्य वेदमंत्रमें न होनेके कारण इस संध्याको 'वैदिक संध्या' कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्नके उत्तरमें निवेदन है कि 'प्रतीक सूचना' से वैदिक मंत्र सूचित करनेका ढंग वेदमें है और उसके अनुसार उक्त वाक्य प्रतीकसूचनाके हैं। जैसा—

हिरण्यगर्भ इत्येषः। मा मा हिंसीदित्येषा॥

यजु. अ. ३२।३

वास्तवमें 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे०' इत्यादि वेदमंत्र है। उसकी सूचना 'हिरण्यगर्भ इत्येषः' इस प्रतीक द्वारा दी है। इस प्रकार यजुर्वेदमें कई मंत्र प्रतीकोंसे सूचित किये हैं। मंत्रका एक अथवा अनेक शब्द उद्धृत करके मूलमंत्रकी सूचना देनेका ढंग वेदमें है। उक्त प्रकारके अनुसार 'वाक् वाक्' आदि प्रतीक 'वाङ्म आसन्' इस मंत्रका सूचक है। इसी प्रकार अन्य शब्द अन्यमंत्रोंके सूचक हैं। 'भूः' आदि सप्त व्याहृति तथा 'खं ब्रह्म' आदि शब्द वेदके विविध मंत्रोंके सूचक हैं। देखिए—

(१) भूर्भुवः स्वः। सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां सुवीरो
वीरैः सुपोषः पोषैः॥ यजु. ३।३७;७।२९;८।५३;

(२) भूर्भुवः स्वः। लाजीञ्छाचीन्यव्ये गव्य एतदन्न
मत्त देवा एतदन्नमद्धि प्रजापते॥ यजु. २३।८;

(२) भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ यजु.॥ ३६।३

इत्यादि मंत्र 'भूर्भुवः स्वः' के प्रतीकसे सूचित होते हैं।

'(१) सत्ता, ज्ञान और आनंद प्राप्त करना है। उत्तम संतानोंसे प्रजावाले, उत्तम शूरतासे शूर और उत्तम पुष्टिसे पुष्ट बन जायंगे। (२) सत् चित् आनंद प्राप्त करना है। इस लिये हे विद्वानों और प्रजापालको! (लाजीन्) भुना हुआ धान्य (शाचीन्) तथा छिलका उतारा हुआ धान्य (यव्ये) जौ आदि तथा (गव्ये) गोरस, दूध, दही, मक्खन, घी

आदि (एतद् अन्नं) यही अन्न (अत्त) खाइए । यही भोजन कीजिए । (३) सत्व, सुविचार और आनंद प्राप्त करना है । इस लिये उस श्रेष्ठ परमेश्वरके दुःखविनाशक तेजका हम सब ध्यान करते हैं, जो हम सबके बुद्धियोंको प्रेरणा करता है ।'

'भूः पुनातु शिरसि, भुवः पुनातु नेत्रयोः, स्वः पुनातु कण्ठे ।' इन वाक्योंमें आये हुए 'भूर्भुवः स्वः' ये प्रतीक उक्त मंत्रोंके सूचक हैं । इन प्रतीक सूचित मंत्रोंसे निम्न बातोंका उपदेश मिलता है । (१) सुप्रजा निर्माण करना चाहिए, (२) वीरोंके साथ रहना चाहिए, (३) हृष्टपुष्टोंके साथ चलना चाहिए, (४) भुना और पकाया हुआ धान्य तथा गोरस भक्षण करके हृष्टपुष्ट और नीरोग होना चाहिए, (५) परमात्माकी उपासना करना चाहिए । इसीसे अस्तित्व, ज्ञान और आनंद प्राप्त होकर शुद्धि होती है ।

'भूः सिरकी पवित्रता करे' इस वाक्यसे प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस प्रकार पवित्रता करे? इस प्रश्नका उत्तर इन मंत्रों द्वारा मिलता है । पवित्रताकी प्राप्तिके लिये (१) उत्तम संगति (२) उत्तम भोजन और (३) उत्तम भक्ति चाहिए । इनसे पवित्रता प्राप्त होती है । तथा 'महः' से सूचित मंत्र देखिए—

इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः ।
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिं रयिं ॥
यजु. १२।११०

"(अध्वरस्य) हिंसा रहित सत्कर्मका (इष्कर्तारं) प्रचारक (प्रचेतसं) उत्तम ज्ञानी, (राधसः महः) सिद्धिदायक महत्वका (क्षयन्तं) निवास करानेवाला, (वामस्य) इष्टका (सुभगां रातिं) उत्तम दान देनेवाला (महीं इषं) बडी प्रबल इच्छा और (सानसिं रयिं) विजय देनेवाले संपत्तिका, (दधासि) धारण करना है ।" इस मंत्रमें 'महः' का स्वरूप और उसके सहचारी गुणोंका वर्णन है । (१) निर्दोष कर्म, (२) उत्तम ज्ञान, (३) सिद्धिका महत्व, (४) उत्तम दातृत्व, (५) प्रबल इच्छा, (६) विजय युक्त धन ये छः महत्वके साथी हैं ।

'महः पुनातु हृदये' अर्थात् महत्व हृदयकी पवित्रता करे । इस वाक्यसे सूचित किया है कि निर्दोष कर्मसे, उत्तम ज्ञानसे, सिद्धिके महत्वसे, दानसे, प्रबल इच्छाशक्तिसे तथा विजयी धनसे मेरा हृदय पवित्र होवे । हृदयकी पवित्रता करनेके ये साधन हैं । 'जनः' के विषयमें देखिए—

(१) मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो वि महसः ।
स सुगोपातमो जनः ॥ यजु. ८।३१

(२) इन्द्रवायू सुसंदृशा सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनोऽनमीवः संगमे
सुमना असत् ॥ यजु. ३३।८६

"(१) (यस्य क्षये) जिसके आश्रयसे (दिवः वि महसः) दिव्य महत्वको बढानेवाले (मरुतः) प्राण (पाथाः) सुरक्षित रखते हैं (स जनः) वही जनन शक्तिवाला मनुष्य (सु-गो-पा-तमः) अत्यंत उत्तम रीतिसे अपनी इंद्रियोंका संरक्षण करनेवाला होता है ।" अर्थात् जो प्राणायामका साधन करता है और अपनी इंद्रियोंका उत्तम रीतिसे संरक्षण करता है, वह ही उत्तम प्रजा उत्पन्न कर सकता है । (२) पूजनीय और प्राप्तव्य इंद्र अर्थात् आत्मा और वायु अर्थात् प्राण का हम सब स्वीकार करते हैं, जिससे (सर्वः जनः) सब प्रजा उत्पन्न करनेवाले लोक निश्चयसे (अनमीवः) नीरोग (सुमनाः) उत्तम मनवाले और (नः संगवे) हम सबकी संगतिमें रहनेवाले (असत्) हो जावें । अर्थात् आत्माकी उपासना और प्राणायामसे सब लोक नीरोग, उत्तम विचारी और एक मतसे रहनेवाले होकर सुप्रजा निर्माण कर सकते हैं ।

इस मंत्रमें "सु-गो-पा-तमो जनः" ये शब्द मनन करने योग्य हैं । (सु) उत्तम रीतिसे (गो) इंद्रियोंका (पा) संरक्षण करनेवाला (जनः) सुप्रजा उत्पन्न करनेवाला मनुष्य । यह शब्द इंद्रिय संयम और मनोनिग्रह आदिका उपदेश कर रहा है । पाठक इस मंत्रका अधिक विचार करें । 'जनः पुनातु नाभ्यां' जननशक्ति नाभिस्थानकी पवित्रता करे । इस मंत्रका अर्थ इन मंत्रोंकी संगतिसे खुलता है । (१) प्राणायाम, (२)

इंद्रियनिग्रह (३) और आत्मपरीक्षणसे जनन शक्तिकी तथा जनन स्थानकी शुद्धि होती है । अब 'तपः' का विचार कीजिए—

तपसः तनूरसि ॥ यजु. ४।२६

'यह शरीर तप करनेके लिये है ।' सत्कर्म करनेके समय होनेवाले कष्टोंको आनंदसे सहन करनेका नाम तप है । तथा—

अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि ॥ यजु. ३७।११

'तू तेज, प्रकाश और तप है।' अर्थात् तपके साथ तेजस्विता और स्वयं प्रकाश रहता है । तथा—

त्वं रयिं पुरुवीरामु नस्कृधि
त्वं तपः परितप्याजयः स्वः ॥ ऋ. १०।१६७।१

'तू (पुरुवीरां) सर्व शौर्ययुक्त धन (नः) हम सबको दे तथा तू तप तपकर (स्वः अजयः) आनंदका विजय कर ।' धनके साथ सब प्रकारका शौर्य प्राप्त करना चाहिए । तथा तपसे सबकी प्रतिष्ठा है जैसी शरीरकी प्रतिष्ठा पांवोंके कारण होती है । प्रतिष्ठा का यहां धारणासे तात्पर्य है ।

'सत्यं' और 'खं ब्रह्म' के विषयमें यहां लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । इनका महत्व सब जानते हैं । अस्तु । इस प्रकार प्रतीकोंसे सूचित मंत्रोंका विचार करके बोध लेना चाहिए । प्रत्येक व्याहृति पूर्वोक्त मंत्रोंमें विशेष हेतुसे रखी है और उस प्रत्येकका संबंध वेदके कई मंत्रोंके साथ है । इसका दिग्दर्शन यहां कराया है । सब मंत्रोंकी संगति लगाकर सब व्याहृतियोंका विचार करनेसे बहुत उपदेश प्राप्त हो सकता है । आशा है इस प्रकार पाठक विचार करेंगे ।

इससे स्पष्ट है कि इस संध्यामें आये सब व्याहृति आदिके शब्द विशेष हेतुसे रखे हैं और एक एक शब्दके पीछे कई मंत्र खडे हैं । इस प्रकार व्याहृतियोंका विलक्षण संबंध है । जिसको देखनेसे बडा आनंद प्राप्त हो सकता है । तात्पर्य कि जो संध्याके वाक्य वेदके नहीं हैं वे इस प्रकारसे वहां रखे हैं कि उनसे कई वैदिक मंत्रोंकी सूचना मिल सकती है । इस लिये यह सब संध्या वैदिक है इसमें कोई संदेह नहीं है ।

(१३) संध्या करनेवाले उपासकके मनकी तैयारी।

संध्या करनेवाले उपासकको उचित है कि वह अपने मनमें निम्न प्रकार भावना करे और किसी प्रकारके संदेहकी वृत्ति न रखे।

(१) मैं आत्मा हूं और मैं शरीरसे भिन्न हूं। मैं शरीर, इंद्रिय, मन आदिका स्वामी हूं तथा मन आदि सब इंद्रियों और अवयवोंका प्रेरक हूं।

(२) ज्ञान, मनन, विचार, दर्शन, स्वभाव, भावना, कल्पना, तर्क, इच्छा आदि सब शक्तियोंको मैं प्रेरित करूंगा। मैं इनको इस प्रकार चलाऊंगा कि इनके द्वारा अपनी सदैव उन्नति होती रहे। मैं इनको अपने आधीन रखूंगा। इनके आधीन मैं कभी नहीं होऊंगा। मैं इनका स्वामी और चालक हूं और ये सब शक्तियां मेरे आधीन रहकर मेरा कार्य करनेवालीं हैं। और मैं इनसे कार्य लेनेवाला स्वामी हूं।

(३) मैं जानता हूं कि मैं इनके आधीन यदि हो गया तो ये सब मिलकर मेरा नाश करेंगे। जब तक इनको मैं काबू में रखूंगा तब तक ही मेरी उन्नतिका मार्ग मेरे लिये खुला रहेगा।

(४) स्वाधीनता, संयम, दमन करनेसे मेरी शक्ति बढती है। इनके आधीन हो जानेसे पराधीनता होनेके कारण दुःखकी प्राप्ति निश्चयसे होती है। इस लिये अपनी स्वतंत्रताका संरक्षण करना मेरा धर्म है।

(५) मैं प्रतिदिन वेदका अध्ययन और मनन करूंगा, योगका साधन करके शारीरिक, मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य प्राप्त करूंगा। मेरा निश्चय सदा स्थिर रहेगा। मेरे अंदर चंचलता नहीं रहेगी।

(६) मैं सदा प्रयत्नशील रहूंगा। यहां पुरुषार्थ प्रयत्न करता हुआ सौ वर्ष जीनेका यत्न करूंगा। दीनताको दूर करके सदा उत्साहको पास रखूंगा।

इस प्रकारके विचारोंसे मन परिपूर्ण रखना चाहिए। 'मैं हीन और दीन हूं' ऐसा कहनेवाले संध्यासे लाभ नहीं उठा सकते। मनुष्य भावनामय होनेसे जैसे विचार मनमें रखता है वैसा ही बनता है। 'मैं दीन हूं' ऐसा सदा कहनेवाला मनुष्य 'अदीनाः स्याम शरदः शतं' (मैं सौ

वर्षपर्यंत दीनतासे रहित होऊंगा), ऐसा कहनेका अधिकारी नहीं हो सकता । इस विषयमें वेदकी भाषा स्पष्ट है । संध्याके मंत्रोंमें ही अंतमें "मैं सौ वर्ष जीऊंगा, सौ वर्ष ज्ञानका उपदेश सुनूंगा, सौ वर्ष प्रवचन करूंगा, सौ वर्ष उत्साही रहूंगा, इतना ही नहीं, परंतु सौ वर्षसे अधिक आयुतक जीवित रहूंगा ।" यह वेदमंत्र जिस प्रकारकी उत्साहकी भाषा बोल रहा है; उसी प्रकारकी भाषा बोलना वैदिक धर्मियोंका कर्तव्य है । हीनदीनता युक्त शब्द बोलना महापाप है ।

(१४) क्या ऐसा माननेसे घमंड नहीं होता ?

"मैं शूर रथी हूं और यह शरीर मेरा रथ है । इस रथको इंद्रियरूप घोडे जोते हैं । मन सारथी है जो मेरे अनुसार रथ चलाता है ।" इत्यादि भाव जो वेद और उपनिषदोंमें लिखे हैं, ये घमंडके भाव नहीं हैं ।

"मैं अपने मनका प्रवर्तक हूं और अपनी इच्छा शक्तिसे जिस योग्य मार्गसे चाहूं मनको चला सकता हूं" इस प्रकारकी भावना रखना घमंड नहीं है ।

साधारण लोक स्वाधिकार, आत्मसंमान और घमंडमें भेद नहीं करते । क्या उनके मतसे उक्त वेदवाक्य तथा उपनिषद्वाक्य घमंडसे भरे हैं ? कदापि नहीं । वेदवाक्य जिस प्रकारकी भाषा प्रयुक्त करते हैं, उसी प्रकारकी भाषा सबको बोलनी चाहिए । मेरा यहां तात्पर्य संस्कृत भाषासे नहीं है । जिस प्रकारकी भावना वेदोंके मंत्र प्रदर्शित करते हैं, उस प्रकारकी भावना हमें अपनी भाषामें प्रदर्शित करना चाहिए । अन्य मतमतांतरोंके संस्कार होनेके कारण हमारे मनमें विपरीत विचार हो गये हैं, इस लिये हमें विपरीत बातें अच्छीं लगतीं हैं, और योग्य उपदेश विपरीत प्रतीत होता है !!!

(१५) अंतिम प्रार्थना ।

पाठकोंसे अंतिम प्रार्थना इतनीही है कि वे इन बातोंका विचार करें तथा संध्याके स्पष्टीकरणमें लिखे हुए अनुष्ठानविधिको अच्छी प्रकार आ-

चरणमें लावें । स्वयं सोचने और अनुष्ठान करनेसे सब बातोंका ठीक ठीक पता लग सकता है । आर्योंके वैदिक धर्ममें संध्याका अनुष्ठान दैनिक होनेके कारण अत्यंत महत्त्व पूर्ण है । दिनमें कमसे कम दो वार जिस विधिका अनुष्ठान अत्यंत आवश्यक है, उस विधिकी ओर इस समय तक जैसा ध्यान जाना चाहिए वैसा बहुतोंका नहीं गया है, यह बडे शोककी बात है ।

जहांतक संभव हुआ वहांतक मैनें इस पुस्तकमें ऐसी ही बातें रखीं हैं कि जिनका अनुभव मैंने अथवा मेरे मित्रों ने किया है । केवल कहने सुननेकी बातें नहीं लिखी हैं । जो मंत्र उच्च भूमिकाके तत्त्वोंका आविष्कार कर रहे हैं, उनका स्पष्टीकरण करनेके समय अपने अज्ञान की अवस्था स्पष्ट लिखी है । इसलिये कि जो आगे बढे हैं वेही उन बातोंका स्पष्टीकरण कर सकते हैं । हमारे जैसे साधारण लोकोंकी वहां गति नहीं है । तथा जो बात नहीं जानी है, उसको शब्द तोड मरोड कर बतानेसे कोई लाभ नहीं हो सकता ।

इस समय संध्यापर बहुतसी पुस्तकें रचीं गयीं हैं । परंतु यह पुस्तक नवीन रीतिसे ही लिखी है । इस कारण इसमें न्यूनतायें भी बहुत रह गई होंगीं । इन न्यूनताओंको दूर करनेका कार्य सब प्रकारसे पाठकोंका है । संध्याका विषय अनुभवका होनेसे और सब बातोंका अनुभव मुझे न होनेके कारण दोषके स्थल बहुत रहे हैं । जो जो पाठक अपना अनुभव भिन्न रीतिसे ले चुके हैं, अथवा जिन्होंनें इन मंत्रोंका भिन्न रीतिसे विचार किया होगा, उनको उचित है कि वे अपना अनुभव तथा अपनी रीति विस्तारपूर्वक प्रकट करें । सबके विचारोंका अनुशीलन करनेसे ही मनुष्यका ज्ञान बढ सकता है ।

इस पुस्तकमें शब्दोंके तथा मंत्रोंके अर्थोंमें प्रचलित अर्थसे थोडासा मतभेद प्रदर्शित किया है । इस समय तक जिन जिन शब्दोंका जो जो अर्थ समझा जाता था, वह अन्य पुस्तकोंमें पाठक देख सकते हैं । कई वर्षोंके विचारसे जो अर्थ मुझे अच्छा प्रतीत होता है, वही मैनें यहां दिया है । प्रत्येक मंत्र जिस अनुष्ठानके लिये है उसके योग्य अर्थ करनेका प्रयत्न यहां

किया है । तथा जिस मंत्रसे जो अनुष्ठान सूचित होता है, उसका पाठ करनेके समय वह क्रिया करनी चाहिए, ऐसा स्पष्टीकरणमें स्पष्ट लिखा है।

जो ढंग इस पुस्तकमें लिखा है उसके अनुसार संध्या करनेसे 'क्रियायुक्त संध्या' करनेका लाभ प्राप्त हो सकता है । केवल पाठमात्रसे लाभ होना असंभव है । क्रियाके साथ मंत्र पाठ करनेसे लाभ हो सकता है । इस योगके कथनके अनुसार यह संध्या प्रणाली लिखी है ।

कई वर्षोंतक इस प्रकार संध्या करनेसे बहुत लाभ होता है, ऐसा मेरा तथा अपने मित्रोंका अनुभव है । आशा है कि पाठकोंको भी यही अनुभव प्राप्त होगा । अंतमें पाठकोंसे सविनय निवेदन है, कि यदि किसी स्थानपर शंका उत्पन्न हुई हो तो मुझे अवश्य पत्रद्वारा सूचित करें । ताकि मैं उसका विचार करके इस पुस्तककी न्यूनताको दूर करनेका यत्न द्वितीय संस्करणके समय करूंगा ।

मिलकर प्रयत्न करनेसे ही सब प्रकारकी उन्नति हो सकती है । इस लिये आशा करता हूं कि इस कार्यमें उपासक लोक अवश्य सहायता देंगे।

औंध (जि. सातारा)
१५।६।२०

श्री. दा. सातवळेकर,
स्वाध्याय मंडल.

संध्याके अनुष्ठानका फल

संध्याके अनुष्ठानका फल परम पूजनीय भीष्मपितामहने निम्न प्रकार कहा है—

ऋषयो नित्य-संध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवन् ॥

महाभारत अनुशा. अ. १०४

"प्रतिदिन यथासमय संध्या करनेसे ऋषियोंने दीर्घ आयु प्राप्त किया था।" अर्थात् भीष्मपितामह के कथनानुसार संध्या का एक फल दीर्घ आयुष्यकी प्राप्ति निश्चित है। इसी संध्यायोग के उत्तम प्रकारके अनुष्ठानसे स्वयं भीष्म पितामहने अपनी १७० वर्षकी आयुकी अवस्थामें भी दस दिनतक घनघोर युद्ध करनेकी शक्ति अपने शरीरमें स्थिर रखी थी। ऋषिमुनियोंने तो इससेभी अधिक दीर्घ आयुष्य प्राप्त किया था। अर्थात् दीर्घ आयुष्यकी प्राप्ति यह एक प्रत्यक्ष फल संध्याके अनुष्ठान का है। अन्य फल आत्मिकबल–विकास आदि अनेक हैं।

संध्याके मंत्र केवल कंठद्वारा उच्चारण करनेसेही उक्त फल प्राप्त नहीं होता है, परंतु मंत्रद्वारा सूचित अनुष्ठान योग्य प्रकार करनेसे ही उक्त फल प्राप्त हो सकता है। इसका कारण पाठकभी स्वयं जान सकते हैं। "भोजन करनेसे आनंद होता है" इस वाक्यका वारंवार उच्चारण करनेसे आनंद नहीं होगा, परंतु दालरोटी आदि पदार्थ बनाकर उनका योग्य प्रकार सेवन करनेसेही आनंद होता है। इसी हेतुसे पूर्वमीमांसाकार भगवान् जैमिनी महामुनीने कहा है कि (आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्। जै० सू०) वेदके मंत्रोंका मुख्य उद्देश अनुष्ठान करना है। अर्थात् यदि अनुष्ठान करना मुख्य उद्देश वेदमंत्रोंका है, तो स्पष्ट है कि अनुष्ठानके विना मंत्रोक्त सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। वेदका एक एक मंत्र, अथवा मंत्रका एक एक शब्द विशेष अनुष्ठान की सूचना दे रहा है। मंत्रोंके प्रतीक लेकर जो अनुष्ठान के सूचक मंत्रवाक्य बनाये गये हैं वेभी खास खास अनुष्ठान की सूचना दे रहे हैं। "बहु बाह्वोर्बलं" इस अथर्व वेदके

मंत्रानुसार "बाह्वोर्मे बलमस्तु" तथा "बाहुभ्यां यशो बलं" ये मंत्रवाक्य बनाये गये हैं। यदि बाहु-बल-वर्धक अनुष्ठान की सूचना इस मंत्रद्वारा नहीं लेनी है और तदनुसार आसनादिकोंका अनुष्ठान नहीं करना है, तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि बाहुओंके बलका संवर्धन नहीं होना है। और इस प्रकार प्रत्येक अंग और अवयव निर्दोष, नीरोग, सबल और पवित्र न हुआ, तो भीष्मपितामहके कथनानुसार संध्यानुष्ठानसे दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति भी केवल मंत्रोच्चार मात्रसेही नहीं होनी है। तात्पर्य जो अनुष्ठानका फल है, वह अनुष्ठान करनेसेही होगा। इसलिये संध्याके मंत्रोच्चारके साथ योग्य अनुष्ठान होना अत्यंत आवश्यक है।

अब यह विचार करना है कि संध्याका योग्य अनुष्ठान करनेसे दीर्घ आयुष्यप्राप्तिरूप फल किस प्रकार प्राप्त हो सकता है। योग्य अनुष्ठान वह होता है, कि जो योगकी रीतिके साथ अनुकूल हो। 'संध्या-योग' वास्तविक रीतिसे योग साधनका भाग है। इस संध्योपासनाके शब्दों और मंत्रोंद्वारा जिस अनुष्ठान की सूचना होती है, उनका योगपद्धतिके अनुसार ही अनुष्ठान होना चाहिए। जिस मंत्रसे जिस योगके अंगकी सूचना होती है उसका वर्णन इस पुस्तक में पाठक देख सकते हैं। इस पुस्तक में आगे संध्योपासनाके मंत्र, उनका शब्दार्थ, उनके मानसिक ध्यानका प्रकार, और उस समय करने योग्य योगके अनुष्ठान क्रमशः दिये हैं। यहां इतनाही देखना है कि इस अनुष्ठानसे किस प्रकार उक्त फल प्राप्त होता है। योग के आठ अंग हैं। उनमें यम नियम नामक दो अंगों द्वारा मनुष्यके उत्तम आचरणके नियम कहे हैं। (१) अहिंसा—दूसरोंको कष्ट न देना, (२) सत्य—सत्यका पालन करना, (३) अस्तेय—चोरी न करना, (४) ब्रह्मचर्य—उत्तम आचरणपूर्वक शरीरमें वीर्य स्थिर करना और ज्ञानार्जन करना, (५) अपरिग्रह—दान न लेना दूसरोंके दानपरही अपना गुजारा न करना, (६) शौच—अंतर्बाह्य पवित्रता करना, (७) संतोष—संतोष धारण करना, (८) तप—शीत उष्ण आदि द्वंद्व सहन करनेका अभ्यास करना, (९) स्वाध्याय—शुद्ध विद्याका अध्ययन करना, (१०) ईश्वरप्रणिधान—ईश्वरभक्ति करना, ये योगके दस यम और नियम प्रत्येक मनुष्यके वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहारके

लिये आदर्शरूप ही हैं। यदि संपूर्ण मनुष्य इन सुनियमोंका पालन करें तो किसी प्रकारके क्लेश नहीं हो सकते। यह योगका बाह्य स्वरूप है अथवा यह बाह्य तय्यारी है।

संध्याके अनुष्ठानमें आसनोंके अनुष्ठानसे शरीरकी सब नसनाडियोंकी शुद्धि होती है, और खूनका प्रवाह सब शरीरमें उत्तम प्रकारसे होता है। संधि पर्व आदि स्थानोंमें जो विविध प्रकारके रोगबीज बैठे रहते हैं, रुधिरके अभिसरणसे धोये जाते हैं और आरोग्य संपादन होता है। रक्त की शुद्धि से स्वास्थ्य, दीर्घ आयु और बल आदि प्राप्त होते हैं, वह रक्तकी पवित्रता प्राणायामसे सिद्ध होती है। इस प्रकार यम नियम आसन और प्राणायाम के अनुष्ठानसे शरीरका स्वास्थ्य प्राप्त होता है। जहां स्वास्थ्य होगा वहां बल और दीर्घ आयुष्य प्राप्त होना असंभव नहीं है।

स्वास्थ्य, बल और दीर्घ आयु ये तीन फल यद्यपि परस्पर भिन्न हैं, तथापि एक दूसरे पर अवलंबित भी हैं। बल और दीर्घ आयुष्य के विना केवल स्वास्थ्यसे उतना लाभ नहीं हो सकता। स्वास्थ्य और दीर्घ आयुके विना केवल बलसे कोई उन्नति नहीं होगी। तथा स्वास्थ्य और बलके विना केवल दीर्घ आयु प्राप्तभी नहीं हो सकती। योगके उक्त चार अंगोंद्वारा स्वास्थ्य, बल और दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है। यदि प्रत्याहार, धारणा और ध्यान के द्वारा मनका संयम हुआ, तो स्वास्थ्य बल और दीर्घ आयुष्य प्राप्त होनेमें कोई शंकाही नहीं। संध्याके अनुष्ठानमें धारणाध्यान का प्रकार आगे प्रत्येक मंत्रके अनुष्ठानमें लिखाही है। प्रत्येक अनुष्ठान प्रायः मनकी धारणाके साथही किया जाता है। अर्थात् संध्योपासना में धारणाका उत्तम अभ्यास होता है और साथ साथ मनसे ध्यानभी किया जाता है। योग्य प्रकार धारणा ध्यान होनेसे थोडे वर्षों के अनुष्ठानसे क्रमशः समाधिकी भूमिकाओंमेंभी प्रगति होती है। तात्पर्य निश्चयपूर्वक विश्वासके साथ अनुष्ठान करनेसे मनकी स्वाधीनता प्राप्त होती है। पूर्वोक्त प्रकार शरीर का स्वास्थ्य, और धारणाध्यानके अभ्याससे मनका संयम होनेसे अपमृत्युका भय दूर होना कोई अशक्य बात नहीं है। शरीर में ऋणविद्युत् है और मनमें धनविद्युत् है। दोनोंका विकास होनेसे

दोनों प्रकारके विद्युत् प्रवाह ठीक चलने लगते हैं। उक्त दोनों प्रवाहों में विषमता होनेसे रोगोंकी उत्पत्ति होती है। जब विषमता न होगी तब स्वास्थ्यही स्वाध्य प्राप्त होगा इसमें क्या संदेह है?

त्रिदोष उत्पन्न होनेतक शरीरकी स्थिति रह सकती है। इस लिये कहते हैं कि जो योगाभ्यासद्वारा शरीर और मनको स्वाधीन करलेते हैं, वे "इच्छामरणी" होते हैं, जैसे भीष्माचार्य होगये थे। इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त होना संभव है, अर्थात् यह सिद्धि प्राप्त होनेकी कल्पना मनमें ठीकप्रकार आ सकती है। जिनकी उत्पत्ति उत्तम सुदृढ मातापिताके उत्तम निर्दोष रजवीर्यसे होगई है, उन्होंनें यदि आठ वर्षकी अवस्थासे इस प्रकार योगानुष्ठानपूर्वक संध्योपासना प्रतिदिन की, तो निःसंदेह उत्तम अतिदीर्घ आयु, बल और स्वास्थ्य प्राप्त हो सकता है। यही इच्छामरण की सिद्धि है।

प्रत्येक शारीरिक हलचलसे शरीरकी शक्ति क्षीण होती है। योगके अनुष्ठानसे यह क्षीणता दूर होती है, और प्रत्येक शक्तिका विकास होने लगता है। शक्तिकी क्षीणतासेही मृत्युका आक्रमण होताहै; यदि शक्तिकी क्षीणता न हुई अथवा योगियोंकी प्रतिज्ञाके अनुसार शक्तिका विकास होने लगा, तो मृत्यु किसप्रकार आ सकता है? तात्पर्य, उत्तम अनुष्ठान करनेवाला योगी मृत्युके आक्रमणसे नहीं मरता, परंतु अपनी इच्छासे मरता है। जो शरीर उत्पन्न होगया है उसका नाश अवश्य होनाही है। यह परमेश्वर का नियम होनेके कारण कोई मनुष्य इस नियमको तोड नहीं सकता। परंतु योगाभ्याससे मृत्युको अपने आधीन कर सकता है। संपूर्ण प्राणी मृत्युके आधीन हैं, केवल "उत्तम योगी ही मृत्युको अपने आधीन कर सकता है।"

योगाभ्याससे तीनसौ वर्षतक आयु होनेकी संभावना है। १७० वर्षतक मनुष्य जीवित रहेथे ऐसी साक्षी इतिहास दे रहा है। कितनाभी साधन किया तथापि मनुष्यके व्यवहारमें किसी न किसी बात में त्रुटि रहती ही है, इस कारण ३०० वर्षकी आयु प्राप्त होवे वा न होवे, सौ डेडसौ वर्षकी आयु प्राप्त की जा सकती है। जो उत्तर अवस्थामें योगा-

भ्यास करेंगे उनको उतने प्रमाणसे न्यून फलकी आशा करना चाहिए। परंतु जो छोटी अवस्थासे उत्तम गुरुकेपास रहते हुए निश्चयपूर्वक अनुष्ठान करेंगे उनको उक्त सिद्धि निःसंदेह हो सकती है।

जो योगी अपनी दैनिक हलचलके कारण होनेवाली क्षीणता को योगाभ्यासद्वारा स्वशरीरसे दूर कर सकते हैं, उनको मृत्युका भय नहीं रहता। जिस समय वे मरना चाहते हैं, उस समय भोजन थोडा थोडा कम कर देते हैं, और अंतमें केवल जलपर ही रहते हैं, इसके पश्चात् प्राणायामद्वारा अपने सब शक्तियोंको एकत्रित करके इस शरीरको स्वयं अपनी इच्छासे छोड देते हैं। यह सारांशसे इच्छा-मरण की सिद्धिका स्वरूप है।

यद्यपि मुझे स्वयं इस बातका अनुभव नहीं है, और मुझमें इस प्रकारकी योग्यता यद्यपि बिलकुल नहीं है, तथापि एक दो सत्पुरुषोंके इस प्रकारके मृत्यु प्रत्यक्ष देखनेसे, और ग्रंथोंके वचनोंसे जो ज्ञात हुआ है, उसका विचार करनेसे, मेरा पूर्ण विश्वास हुआ है, कि प्रयत्नसे इस प्रकारकी योग्यता प्राप्त की जा सकती है, और इस प्रकारकी योग्यता प्राप्त करनेका अनुष्ठान अपनीही संध्योपासनामें प्रारंभसे अंततक विद्यमान है।

तात्पर्य इच्छा-मरण की सिद्धि केवल काल्पनिक नहीं है परंतु प्रयत्नसे अवश्य साध्य होनेवाली है। इसलिये प्रत्येकको संध्योपासनाका अनुष्ठान प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए। संध्योपासनाकी सिद्धि उपासकके मनकी अवस्थापर निर्भर है। गोपथ ब्राह्मणमें कहा है—

स मनसा ध्यायेद्, यद् वा अहं किंचन मनसा ध्यास्यामि।
तथैव तद् भविष्यति। तद्ध स्म तथैव भवति॥

गोपथ. ब्रा. पू. १।९

"वह मनमें इस निश्चयको धारण करे, कि मैं जिसका मनसे ध्यान करूंगा, वह बात वैसीही बन जायगी। निश्चयसे वह बात वैसीही बन जाती है।"

योगशास्त्रका यही बडा भारी सिद्धांत है। सर्वसाधारण लोकोंकी मानसिक निर्बलता उनके अज्ञानमें है। वे समझते हैं, कि हम निर्बल और

तुच्छ हैं । जब लोक बोलने कहने और भजन आदिमें भी 'मैं निर्बल हूं' इसी बातका जप करते हैं, तब उनके निर्बल होनेमें कोई शंकाही नहीं है । उक्त गोपथके वचनमें कहाही है, कि जो मनसे ध्यान किया जाता है, ठीक वैसीही सिद्धि होजाती है । अर्थात् जो निर्बलताका ध्यान करेंगे, वे निर्बल बनेंगे । परंतु "यदि बल का ध्यान किया जायगा, तब बलवानभी बन सकेंगे ।" यदि यह नियम सब जानेंगे, तब सबको अपनी शक्तिका पता लग जायगा ।

उक्त नियमके अनुसार जो मनुष्य इच्छा-मरण की सिद्धि प्राप्त करने का निश्चयपूर्वक ध्यान करेंगे और साथ ही योग का अनुष्ठान करते जांयगे, उनको वैसी सिद्धि होनेमें क्या शंका है? निश्चयसे सिद्धि होसकती है । न केवल यह एक परंतु संपूर्ण अन्य शक्तियां प्राप्त हो सकतीं हैं । परंतु अनुष्ठान विश्वास और निश्चयके साथ होना चाहिए ।

संध्योपासना की आद्योपांत सब विधि उक्त नियम के अनुसार ही आचरण करने योग्य है । अर्थात् जो अनुष्ठान करना है उसे मनके पूर्ण विश्वासके साथ और निश्चयात्मक बुद्धिके साथ ही करना चाहिए । मंन में किसी प्रकारका संशय रहना नहीं चाहिए । संशयके कारण ही सब हानि होती है । भीष्मपितामहने जो संध्योपासनाका फल कहा है, वह उक्त मनोविज्ञानके नियमानुसार ही लिखा है । प्रतीत होता है कि भीष्मपितामहके समय संध्योपासनाकी संपूर्ण विधि उपनयन-संस्कारके साथही सिखाई जाती होगी । यदि वह पाठप्रणाली फिर प्रारंभ की जायगी, तो उक्तप्रकार फल होना असंभव नहीं है । आशा है कि उपासक लोक इस विधिके अनुसार उपासना करके पूर्ण लाभ प्राप्त करेंगे ।

इस संध्याविधिमें मुख्य तीन भेद हैं । (१) प्रारंभसे अघमर्षणतक वैयक्तिक उन्नतिका ध्यान होनेसे यह भाग एक व्यक्तिकी उन्नतिकी विधि बता रहा है । (२) तदनंतर मनसा परिक्रमाके मंत्रों में सामुदायिक, सार्वजनिक, जातीय, सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा जनताके अभ्युदयका मार्ग स्पष्ट हुआ है, इसलिये यह दूसरा भाग सामुदायिक उन्नतिकी विधि बता रहा है । (३) इसके पश्चात्का संपूर्ण भाग परमात्मोपासना का है। इस

दृष्टिसे पाठकोंको इस संध्याविधिका विचार करना चाहिए। व्यक्ति, समाज और संपूर्ण जगत की उन्नति से ही सबकी परिपूर्णता होती है, यह वैदिक सिद्धांत सर्वत्र वेदमें प्रसिद्ध है, और उसी बातका प्रतिबिंब इस संध्योपासनामें स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

जो विधि इस पुस्तकमें लिखी है, आदिसे अंततक वैसी ही करनेसे तीनचार घंटेका समय लग जाता है। हरएक के पास इतना समय प्रतिदिन आजकलके जीवन युद्ध के कारण मिलना असंभव नहीं, तो निःसंदेह कठिन है। प्रातःकाल चार बजे ठीक उठकर अथवा शक्य हुआ तो आधा घंटा पूर्व उठनेसे, प्रातर्विधि करने के पश्चात् आठ साढे आठ बजेतक उपासना के लिये समय पर्याप्त मिल सकता है। परंतु सर्वसाधारण जनोंको इतना सवेरे और शामको समय नहीं मिलेगा। ऐसी अवस्थामें उनको दो ही उपाय हैं। (१) एक अवस्थामें वे प्रत्येक अनुष्ठान थोडा थोडा कर सकते हैं, (२) अथवा दूसरी अवस्थामें कुछ बातोंका स्मरण मात्र करके किसी आवश्यक अन्यभाग का पूर्ण अनुष्ठान कर सकते हैं। इस प्रकार करनेसे संपूर्ण फल तो प्राप्त नहीं होगा, परंतु कुछभी न मिलनेकी अवस्थामें बहुत कुछ प्राप्त हो सकता है। इतना तो आवश्यकही है कि हरएक को संध्याके लिये प्रतिदिन दो घंटेका समय कमसे कम अवश्य ही नियत करना चाहिए। और अपने समय और अपनी शारीरिक अवस्थाके अनुसार अपना अनुष्ठान निश्चित करना चाहिए। प्रारंभमें प्राणायामादिक के लिये थोडाही समय पर्याप्त होसकता है, परंतु जैसा अभ्यास बढेगा वैसा अधिकाधिक समय आवश्यक होगा। इसलिये अपनी अनुकूलताके अनुसार सबका यथायोग्य निश्चय करना चाहिए। और तदनुसार अपना अनुष्ठान प्रतिदिन करना योग्य है।

इस पुस्तकमें प्रत्येक बातकी परिपूर्ण मर्यादा लिखी है। अपने समयके अनुसार उस विधि में न्यूनाधिक करना अयोग्य नहीं होगा। जैसा—प्राणायामोंकी संख्या इस पुस्तकमें ८० लिखी है। पूर्णप्राणायाम ८० बार करने के लिये दो घंटेका समय अवश्य लगता है। यदि केवल प्राणायाम के लिये दो घंटेका समय गया तो अन्यसंध्याविधि के लिये बहुतही समय

लगेगा । इस अवस्थामें ८० वार के स्थानमें प्राणायामोंकी संख्या २० वार कर सकते हैं । इसीप्रकार अन्य आसनादिकों के विषयमें समझना उचित है । यहां पूर्णता की अवस्था लिखी है । समयके अभावमें अपनी अपनी परिस्थितिके अनुसार जो न्यूनाधिकता करना उचित होगा, उतना उपासक कर सकते हैं । क्यों कि सबकी अवस्था, परिस्थिति और योग्यता भिन्न भिन्न होती है, इसलिये सबके लिये एकही नियम योग्य नहीं हो सकता । यहां पूर्ण मर्यादा लिखी है, अब पाठकोंकी रुचि है, कि वे अपनी परिस्थिति में, तथा अपने समय और आयुकी अवस्थामें जो योग्य होगा, वही आचरण करें । जो जितना अनुष्ठान जिस प्रकार करेगा, उतनाही उसको फल प्राप्त हो सकता है । आशा है कि पाठक अधिकसे अधिक फल प्राप्त करेंगे ।

औंध (जि. सातारा) ८।२।२१ } श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्याय मंडल.

द्वितीयवार की भूमिका ।

संध्योपासना के प्रथमवार के सब ग्रंथ शीघ्र ही लग चुके और प्रतिदिन उनकी मांग बढ रही है, इस लिये इसका द्वितीयवार मुद्रण किया है । इस में 'अनुष्ठान की रीति' पूर्ण रूप से दी गई है । इसलिये पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक पूर्वकी अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध होगी ।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
ता. १।४।२१ स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

संध्याका अनुष्ठान।

(१) संध्याकी पूर्व तैयारी।

संध्योपासना करनेके लिये निम्न प्रकारसे अपनी तैयारी कीजिए—

(१) प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तके समय उठकर प्रसन्नचित्तसे शौच मुख-मार्जन आदि करनेके पश्चात्, विशेषतः शीत उदकसे—(अथवा शरीरकी अवस्थाके अनुसार आवश्यक हो तो कोसे अथवा गर्म जलसे)—स्नान करके, सब धोये हुए कपडे धारण कीजिए। और सब मलिन वस्त्रोंको दूर कीजिए। पश्चात् रमणीय, शांत, स्वच्छ और आनंदकारक स्थानमें आसन बिछा कर बैठिए।

(२) मन संतुष्ट रखिए। आपके व्यवहारके हानि लाभ, ईर्ष्या द्वेष, अथवा अपने घरके झगडे इस समय मनमें न रखिए। अपने मनको कहिए, कि ईर्ष्याद्वेषका विचार करनेका यह समय नहीं है।

(३) द्वंद्व सहन करनेकी शक्ति अपने शरीर, इंद्रिय और मनमें बढाइए। शीत सहनेका अभ्यास, उष्णता सहन करनेका अभ्यास तथा अन्य प्रकारके अभ्यास अपने देशके ऋतुके अनुसार करते रहिए। इससे आप नीरोगता प्राप्त कर सकते हैं।

(४) वेदका तथा मनको उच्च और बलवान बनानेवाले पुस्तकोंका प्रतिदिन अभ्यास कीजिए। मनमें बुरे विचारोंका संचार करनेवाले ग्रंथ न पढिए। तथा ऐसेही मनुष्योंकी संगतिमें रहिए कि जो विशेष आत्मिक बल और मनकी शक्तिसे प्रभावित हुये हैं।

(५) परमेश्वर सर्वत्र है, और वही सबका सच्चा पालन करनेवाला न्यायकारी प्रभु है, ऐसा हृदयमें विश्वास रखिए। सदा सर्वदा उसीका स्मरण रखिए।

(६) शरीर, इंद्रिय, वाणी, मन और विचारसे किसीको कष्ट न देनेका निश्चय कीजिए । तथा स्वाधीनता, स्वसंरक्षण और आत्मसंमान का भाव सदा जागृत रखिए । निर्बलोंका संरक्षण करने और उनको ऊपर उठानेका कार्य करनेके विचार से सदा कर्म करते रहिए ।

(७) सदा सत्यका अवलंबन कीजिए । असत्यका आश्रय कभी न कीजिए । सत्यसे ही सबकी उन्नति होगी ।

(८) चोरी करके सुख भोगनेका भाव मनसे दूर कीजिए । न्याय और धर्मयुक्त व्यवहार से जो प्राप्त होगा उसीमें संतुष्ट रहिए ।

(९) अपनी सब आंतरिक और बाह्य इंद्रियोंका संयम और दमन कीजिए । अच्छे विचार मनमें धारण करनेसे सब इंद्रियां वशमें रह सकतीं हैं । विशेषतः ब्रह्मचर्य स्थिर रखने का निश्चय कीजिए । गृहस्थाश्रममें ऋ-तुगामी होनेसे ब्रह्मचर्य धारण करनेकी सिद्धि प्राप्त होती है । वीर्य स्थिर रखनेसे आरोग्य, बल और दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो सकता है ।

(१०) अपनी ही शक्तिसे अपने कार्य कीजिए । दूसरोंपर निर्भर न रहिए । स्वाधीनता, स्वावलंबन आदि उच्च भावोंको धारण कीजिए ।

इन नियमोंका सर्व साधारण रीतिसे सदाही आपको पालन करना चाहिए । जब सहज वृत्तिसे उक्त दस नियमोंका पालन होगा, अथवा जब उक्त नियम आपके स्वभावरूप ही बन जांयगे, तब आपके आत्माकी शक्ति प्रकाशित होने लगेगी ।

आसन—जहां संध्योपासना का अनुष्ठान करना है वहां बैठनेके लिये अच्छा आसन बिछाइये । स्वच्छ भूमिपर एक चौकी अथवा अच्छा पट्टा रखिए, उसपर दर्भासन रखकर उसपर कृष्णाजिन रखिए । और उसपर तीन अंगुल ऊंचा ऊनी आसन रख कर उस पर एक अंगुल ऊंचा सूती आसन रखिए । आसन बहुत नरम न होवे और बहुत सख्त भी न होवे, बहुत सख्त होनेसे घंटा दो घंटे बैठा नहीं जा सकता, और बहुत नरम होनेसे भी ढीलापन आजाता है । ऊपरके सबही पदार्थ चाहिए ऐसा नहीं है, मुख्य बात योग्य आसन बनानेकी है । उष्ण देशमें ऊनी आसनसे कष्ट होगा और सर्दीमें ऊनी आसनसे ही आराम प्राप्त होगा । इत्यादि बात विचारसे जानने योग्य है ।

उक्त आसनपर बैठिए । साथ आचमन करनेके लिए शुद्ध जलसे पूर्ण तांबेका कलश, छोटा कौल अथवा पात्र, चमस और पानी ढोलनेके लिये एक बडा पात्र रखिए । कलशसे छोटे पात्र में थोडा पानी लेकर उसमेंसे चमससे हाथपर पानी लेकर उसका आचमन करना होता है इस लिये उक्त बर्तन चाहिएं । जब आचमनादिक होगा तब हाथ धोनेके लिये एक बडा पात्र काम देगा । हाथ धोनेके पश्चात् हाथ पूछनेके लिये एक कपडा भी साथ रखिएं ।

इस प्रकार तैयारी करके मनका पूर्ण निश्चय करके उक्त आसनपर बैठकर संध्योपासनाकी पूर्व तैयारीका प्रारंभ कीजिए ।

---

(१) प्रथमं आचमनम् ।

ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ तै. आ. १०।३२।१

ॐ अमृताऽपिधानमसि स्वाहा ॥ तै. आ. १०।३५।१

अर्थ—हे (ॐ) परमेश्वर! तू (अमृत–उपस्तरणं) अमरपनका आच्छादन है । ऐसा (सु—आह) ठीक कहा जाता है । हे (ॐ) परमेश्वर! तू (अमृत–अपिधानं) अमृतका आवरण है । ऐसा (स्व–आह) मेरा आत्मा कहता है ।

मानसिक ध्यान—हे परमेश्वर! तू अपने अमरपन के साथ सब जगतके बाहिर तथा भीतर फैला है, ऐसा जो कहा है, वह बिलकुल ठीक कहा है । तथा मेरा आत्मा भी तुमारी सर्वत्र उपस्थिति को मानता और अनुभव करता है ।

अनुष्ठान—पूर्वोक्त एक एक मंत्रका उच्चारण करके उक्त प्रकार मनकी भावना करनेके पश्चात्, एक एक मंत्रसे एक एक आचमन कीजिए । जब दो आचमनोंका जल अंदर जला जायगा तब "परमेश्वर की सर्वव्यापकता" पर मनकी भावना स्थिर कीजिए और दो चार मिनिट तक अपने आपको परमेश्वरमें और परमेश्वर को अपने अंदर और बाहर अनुभव करनेका यत्न कीजिए । जिस प्रकार बडे तालावमें तेरनेके समय आप पानीके

बीचमें रहते हैं, उसी प्रकार अमृतमय परमात्मामें अपने आपको अनुभव कीजिए। पांच मिनिट इस प्रकार मन स्थिर करनेका यत्न कीजिए।

ॐ सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥

आ. गृ. १।२४।२९; मा. गृ. १।९।१६

अर्थ—हे (ॐ) परमेश्वर! (मयि सत्यं श्रयतां) मेरे अंदर सत्य स्थिर रहे। (मयि यशः श्रयतां) मुझे यश प्राप्त होवे। (मयि श्रीः श्रयतां) मेरे अंदर दिव्य शक्ति स्थिर रहे, और (श्रीः) मेरे पास धन रहे। इस लिये मैं (स्व–आ–हा) अपने सर्वस्वका अर्पण करता हूं।

मानसिक ध्यान—हे ईश्वर! मेरी इच्छा है कि अपने आत्मा में शुद्ध सत्यनिष्ठा स्थिर रहे, मेरा यश वृद्धिंगत होवे, मेरी दिव्य शक्ति बढे और मुझे ऐहिक सुख साधनोंके साथ आत्मिक आनंद प्राप्त होवे। हे परमेश्वर! इस हेतुसे मैं तेरे धर्मकार्यकी पूर्णता करनेकेलिये अपने सर्वस्वका अर्पण करता हूं।

अनुष्टान—इस मंत्रसे जलका एक आचमन कीजिए। तत्पश्चात् मनमें ऐसा विचार कीजिए कि सत्य, यश, और श्री इन तीनोंमें सत्य सबसे मुख्य है। सत्यका पालन करने के लिये आवश्यक हुआ तो मैं यश और श्री का त्याग करके भी सत्यका आग्रहके साथ पालन करूंगा। कभी मैं सत्यको छोडकर यश और श्री के लोभसे असत्यकी ओर नहीं जाऊंगा। सत्यका पालन करते हुए जितना यश मिलेगा उतनाही मैं यश प्राप्त करूंगा। तथा सत्य और यशके साथ जो श्री मिलेगी उतनी ही मेरे लिये पर्याप्त है। सत्य, यश, श्री में पहिला सबसे मुख्य और आवश्यक है, यश मध्यम है और श्री गौण है। [यहां अपने दैनिक आचरणमें आप किस प्रकार व्यवहार कर रहे हैं, इसका विचार कीजिए, और यदि कोई दोष है तो दूर करनेका यत्न कीजिए]

इस प्रकार विचार होनेके पश्चात् हाथ धोनेके नंतर हाथसे थोडा जल लेकर मुख को स्पर्श कीजिए और निम्न मंत्र कहिए—

(२) अंग-स्पर्शः ।

ॐ वाङ्म आस्येऽस्तु ॥ १ ॥

अर्थ—हे (ॐ) ईश्वर! (मे आस्ये) मेरे मुखमें (वाक्) वक्तृत्व-शक्ति (अस्तु) रहे ।

मानसिक ध्यान—मेरी सौ वर्षकी दीर्घ आयुकी समाप्तितक मेरे मुखमें उत्तम प्रभावशाली वक्तृत्व करनेकी शक्ति स्थिर रहे । वक्तृत्वका किसी प्रकारका दोष मेरी वाणीमें न रहे ।

अनुष्ठान—इस मंत्रसे मुखको जलस्पर्श करके अपनी सब मानसिक शक्ति अपने "वाक् इंद्रिय" पर स्थिर कीजिए । यदि आपके वक्तृत्वमें उच्चारण आदिका कोई दोष है, तो इस समय उस दोषको दूर करनेका प्रयत्न अपने मनकी प्रेरणासे कीजिए । मनको कहिये कि "मैं नहीं चाहता कि इस प्रकारका कोई दोष मेरे वक्तृत्व में रहे ।" जो आप चाहेंगे वह ही आपके शरीरमें मनकी प्रेरणासे बनने लगेगा । यदि आप दिलसे चाहेंगे तो आप थोडेही दिनोंमें इस बातका अनुभव कर सकेंगे । अस्तु । इस प्रकार इस समय आप अपने वक्तृत्वविषयक संपूर्ण दोषोंको दूर करनेका प्रयत्न कर सकते हैं । [अंगस्पर्शके प्रत्येक मंत्रमें 'बल ओज और (अ-रिष्ट) अक्षीणता' की अनुवृत्ति है । इसलिये इनकी वृद्धि करनेका विचार इस अंगस्पर्शके अनुष्ठानके समय करना उचित है ॥]

ॐ नसोर्मे प्राणोऽस्तु ॥ २ ॥

अर्थ—हे ईश्वर! (मे नसोः) मेरी नासिकाओंमें प्राणशक्ति रहे ।

मानसिक ध्यान—मेरी सौ वर्षकी दीर्घ आयुकी समाप्तितक मेरी नासिकामें प्राणशक्ति उत्कृष्ट बलके साथ आपना कार्य करती रहे । तथा श्वास आदि हृदयस्थानकी बीमारी कभी मेरे पास न आवे ।

अनुष्ठान—जलसे नासिका को स्पर्श कीजिए और उक्त भावना के साथ अपना मन, अपनी नासिकाद्वारा संचार करनेवाली, अद्भुत प्राणशक्तिपर स्थिर कीजिए । विश्वव्यापक परमात्माकी प्राणशक्ति मेरे अंदर संचार कर रही है, इस बातका आप इस समय अनुभव कीजिए । आप

चाहे इस समयका अनुष्ठान बैठकर करें, अथवा आपकी इच्छा हो तो आप खडे रहकर भी कर सकते हैं । क्योंकि अब आपको 'भस्त्रा' प्राणायाम करना होगा । भिन्न प्रकृतिके लोक होते हैं । कईयोंको बैठकर तथा दूसरों को खडा रहकर 'भस्त्रा' प्राणायाम करना सुगम होता है । इस लिये आप अपनी प्रकृतिके अनुसार कर सकते हैं । नासिकाद्वारा वेगसे श्वास अंदर लेने और वेगसे छोडनेसे भस्त्रा प्राणायाम होता है । लोहार की जो चमडे की धौंकनी होती है उसको भस्त्रा कहते हैं । जिस प्रकार वेगसे उससे वायु चलता है और अग्निको प्रज्वलित करता है, उसी प्रकार भस्त्रा प्राणायामसे वेगके साथ श्वास और उच्छ्वास करनेसे शरीरके तेजकी वृद्धि होती है । भस्त्रा प्राणायाण के कई प्रकार हैं । (१) पहिला प्रकार —हाथके अंगुठेसे सीधे नासिका द्वार को बंद कीजिए और दूसरी नासिकासे वेगके साथ श्वास लीजिए और वेगके साथ छोडिए । (२) दूसरा प्रकार—हाथ की अंगुलीसे बायें नासिकाद्वार को बंद करके दूसरी नासिकासे पूर्ववत् वेगके साथ श्वास और उच्छ्वास कीजिए । (३) तीसरा प्रकार—दोनों नासिकाद्वार खुले रखकर वेगसे लंबे और पूर्ण श्वास और उच्छ्वास कीजिए । (४) चौथा प्रकार—दायें नाकसे श्वास लेकर बांये नाकसे छोडिए और बांयेसे लेकर दांयेसे छोडिए । लेना और छोडना पूर्ववत् वेगसे कीजिए । भस्त्राके ये मुख्य चार प्रकार हैं । छातिके फेंफडोंमें श्वास वेगसे परंतु पूर्णतासे भरना चाहिए, परंतु श्वास भरने के समय पेटकी ओर के फेंफडोंके नीचले भागमें प्राण पहिले पहुंचना चाहिए और पश्चात् छातिके फेंफडों के ऊपरले भागमें पहुंचना चाहिए । अभ्यास करते समय उक्त बातका अवश्य ध्यान रगना चाहिए । श्वास छोडने के समय एकदम छोडिए और गुदाको ऊपर खेंचकर नाभिके साथ पेट को जोर से अंदर दबाइए । आप श्वास जोरसे बाहिर छोडने का प्रयत्न करेंगे तो उक्त बात स्वयं होती है, परंतु मनके वेगसे उनको अधिक बलके साथ करना चाहिए, इसीलिये यहां लिखा है । प्रारंभमें प्रत्येक प्रकारका भस्त्रा प्राणायाम केवल तीन तीन वार कीजिए । सब प्रकारका मिलकर बारहवार हो जायगा । [सूचना—आपको यहां पूर्णतासे स्मरण रखना उचित है, कि प्राणायाम से उत्साह और विलक्षण अभौतिक आनंद प्राप्त होता है,

इस लिये शक्तिसे अधिक प्राणायाम करने की ओर प्रवृत्ति होती है । इस प्रवृत्तिको रोकना चाहिए । प्राणायामका अभ्यास शनैःशनैः करनेसे दीर्घ आयुष्य, आरोग्य आदिकी प्राप्ति होती है, परंतु अविचारसे यदि आप शक्तिसे अधिक प्राणायाम करेंगे तो शरीर रोगी बनकर आयुका नाश होगा । इस लिये प्रथम वर्ष दो वर्ष, जबतक प्राणायाम का अच्छा अभ्यास न होगा, तबतक आपको शनैःशनैः ही अभ्यास बढाना उचित है । उक्त भस्त्रा प्राणायाम आप पंद्रह दिनोंमें एक एक बढा सकते हैं और जब प्रत्येक की संख्या बीसतक पहुंच जायगी तब और अधिक संख्या बढाने की आवश्यकता नहीं है । प्रत्येककी बीसतक संख्या बढानेके लिये आपको एक वर्षका अवधि कोई अधिक नहीं है ।]

ॐ अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ॥ ३ ॥

अर्थ—हे ईश्वर ! (मे अक्ष्णोः) मेरी दोनों आखोंमें (चक्षुः) दृष्टि (अस्तु) रहे ।

मानसिक ध्यान—मेरी सौ वर्षकी दीर्घ आयुकी समाप्ति तक मेरी दोनों आंखोंमें देखनेकी उत्तम शक्ति स्थिर रहे । मेरी दृष्टि मंद कभी न होवे और अंधापन भी मेरे पास कभी न आवे ।

अनुष्ठान—इस समय अपने नेत्रोंके दोषोंको दूर करनेका निश्चय आपको करना चाहिए । जलसे दोनों आंखोंको स्पर्श कीजिए । और अपने मनका सब बल अपनी आंखोंमें स्थिर कीजिए। पांच छः वार प्रेमसे अपने आंखोंपरसे हाथ घुमाइए । अंगुलियां घुमानेकी अपेक्षा यदि आप हाथका नीचला नरम भाग घुमायेंगे तो अधिक अच्छा है । हरएक प्रयोग करनेके समय आपको अपना मन इस समय आंखमें ही स्थिर रखना चाहिए और इधर उधर का कोई विचार करना उचित नहीं है, क्यों कि सब कार्य आपको अपने मनद्वारा ही करना है । इस लिये जिस अवयवमें इष्ट शक्ति बढानी है, उसीमें मनको स्थिर करकेही अनुष्ठान करना चाहिए ।

अन्यथा सिद्धिकी आशा न कीजिए । आप जहां बैठे या खडे हों, उस

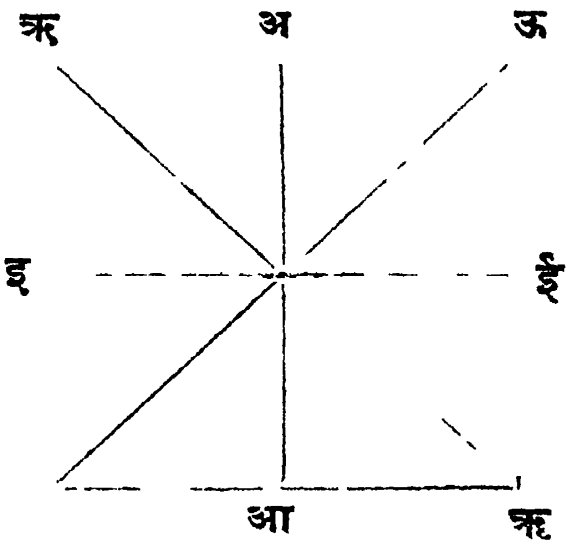

स्थान के सामने यदि दीवार हो तो दीवारके ऊपर आंखसे 'अ—आ' के समान एक खडी रेषा की कल्पना कीजिए और उसी रेषामें ऊपरसे नीचे और नीचेसे ऊपर अपनी दृष्टिको घुमाइए। पांच वार 'अ—आ' में घुमानेके पश्चात् 'इ-ई' में पांच वार घुमाइए। दाईंसे बाईं और बाईंसे दाईं ओर दृष्टि घुमाना चाहिए। पश्चात् 'उ—ऊ' में निचले कोनेसे ऊपरले कोनेतक और ऊपरले कोनेसे निचले कोनेतक दृष्टिका भ्रमण करना चाहिए। तत्पश्चात् 'ऋ—ॠ' रेषाके अनुसार ऊपरसे नीचे और नीचेसे ऊपर अपनी आंखोंको घुमाना चाहिए। इस प्रकार चार गतियां सिद्ध होतीं हैं। प्रत्येक गति दृष्टिमें मनकी स्थिरता करके ही करना उचित है। ध्यान रखिए कि किसी प्रकार सिर न हिलाते हुए, केवल आंखकी पुतलीको ही ऊपर नीचे, दाईं बाईं ओर घुमाना चाहिए। तथा प्रत्येक समय ऊपरसे ऊपर, नीचेसे नीचे, दाईंसे दाईं, बाईंसे बाईं और तिरछीसे तिरछी जितनी पुतली जा सके उतनी लेजानेका यत्न करना चाहिए। यदि सामने दीवार न हो तो कल्पना से उक्त अभ्यास करना उचित है। इस अभ्यासके पश्चात् उक्त

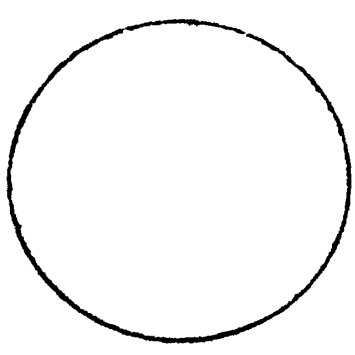

दीवार पर बडेसे बडा गोल चक्कर अपनी दृष्टिसे ही खेंचिए। पहिले पांच चक्कर दाईंसे बाईं ओर (←——↞) खेंचिए पश्चात् उतने ही बाईंसे दाईं ओर (↠——→) खेंचिए। दृष्टिसे खेंचे जानेवाले चक्कर केवल कल्पनाके ही होंगे। यहां तात्पर्य इतना ही है कि सिर न हिलाते हुए आंखकी पुतलीको आप जितना गोल घुमा सकते हैं उतना घुमाइए। इससे आपकी पुतली बलवान और शुद्ध हो जायगी। यदि इस प्रकारका बचपनसे (आठ वर्षकी आयुसे) अभ्यास किया जायगा तो उमरभरमें

ऐनक (उपनेत्र) लगाने की आवश्यकता न होगी, और सौ वर्ष सेभी अधिक आयुमें दृष्टि उत्तम रहेगी। परंतु जो ऐनक लगाने लगे हैं उनको भी प्रयत्नसे ऐनक की आवश्यकता नहीं रहेगी, अथवा कमसे कम आंखोंकी कमजोरी बढेगी नहीं। इस प्रकार अपनी आंखें बलवान करनेका अभ्यास कीजिए।

ॐ कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ ४ ॥

अर्थ—हे ईश्वर! (मे कर्णयोः) मेरे दोनों कानोंमें (श्रोत्रं) श्रवणकी शक्ति रहे।

मानसिक ध्यान—मेरी सौ वर्षकी दीर्घ आयुकी समाप्ति तक मेरे कानोंमें उत्तम श्रवण की शक्ति निवास करे। बधिरता की बाधा मुझे कभी न होवे।

अनुष्ठान—अपने हाथसे थोडेसे जलका स्पर्श कानको कीजिए और अपने मनकी सब शक्ति अपने कर्णेंद्रियमें प्रेरित कीजिए। सिवाय कर्णेंद्रिय स्थानके अपना मन और किसी बातका विचार भी न करे। अपनी इच्छाशक्तिद्वारा मनको वहां स्थिर करके वहांकी सब निर्दोषता करनेके लिये उस मनको प्रेरित कीजिए। सूक्ष्म शब्द सुननेका आप इस समय यत्न कीजिए। आपके पास छोटी घडी होगी तो उसको दूर रखिए और उसका सूक्ष्म शब्द लक्ष्यपूर्वक सुननेका अभ्यास कीजिए। प्रतिदिन घडीका अंतर बढाते चाइए। किसी अन्य प्रकार शब्द श्रवणकी योजना आप कर सकते हैं। इस प्रकारके अभ्याससे आपकी श्रवणशक्ति तीक्ष्ण होनी जायगी, और आश्चर्यकारक श्रवणेंद्रियका विकास होगा।

मन एक ऐसी शक्ति है कि निश्चय और प्रेममय भक्तिसे जो बात उसको कही जायगी वह उससे बन जाती है। इस शक्ति के कारण यहां कर्णेंद्रियकी नीरोगता संपादन की जा सकती है।

ॐ बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ ५ ॥

अर्थ—हे ईश्वर! (मे बाह्वोः) मेरे बाहुओंमें बल होवे।

मानसिक ध्यान—मेरी सौ वर्षकी दीर्घ आयुकी समाप्तितक मेरे बाहुओंमें बडी शक्ति स्थिर रहे। मेरे बाहु कभी कृश न हों।

अनुष्ठान—हाथसे थोडासा जल लेकर बाहुओंपर लगाइए । जल इतना ही लीजिए कि वह सब बाहुपर लगाया जा सके परंतु नीचे गिरे इतना अधिक न लीजिए! दो चार वार हाथसे मर्दन होते ही सूख जावे इतना ही जल लीजिए । जलस्पर्श होते ही उस स्थानके रक्तमें गति उत्पन्न होगी । इसी समय अपने मनकी सब शक्तिकी धारणा अपने बाहुओंपर कीजिए । मनको अपने संकल्पसे प्रेरित कीजिए कि वह बाहुओंमें बल बढानेका योग्य प्रबंध करे । आप थोडेही महीनोंके नित्य अभ्याससे अनुभव कर सकेंगे कि इस प्रकार मनकी इच्छाशक्तिद्वारा विशिष्ट स्थानपर रुधिर लाया अथवा भेजा जा सकता है, और वहांकी नीरोगता प्राप्त की जा सकती है । इस प्रकार मनकी एकाग्रता बाहुओंके स्थानमें करके और बलवान हृष्टपुष्ट बाहुओंका स्मरण करते हुए आप निम्न आसनोंमेंसे कुछ आसन कीजिए । कुक्कुटासन, गोमुखासन, द्विपाद्–शिरासन, ताडासन, वृक्षासन, ऊर्ध्व धनुषासन, गरुडासन, हस्त–भयंकरासन, भुजासन, भुजंगासन, मयूरासन, गर्भासन, हस्तवृक्षासन, मुक्तहस्तवृक्षासन, उत्तानकूर्मासन, पर्वतासन, दोलासन, हंसासन, आदि आसन हैं, कि जो इस समय करने योग्य हैं । कोई चार पांच आसन इस समय कीजिए, जिससे बाहुओंके स्थानकी निर्मलता और निर्दोषता सिद्ध होकर वहांका बल बढ जायगा । इनके अतिरिक्त और भी बहुतसे बाहुओंके व्यायाम और आसन हैं कि जो इस समय करनेमें कोई हानी नहीं है । प्रत्येक आसन पंद्रह सेकंदसे एक दो मिनिटतक कमसे कम करना उचित है, इसका वर्णन आसनोंके पुस्तकमें पाठक देख सकते हैं ।

ॐ ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु ॥ ६ ॥

अर्थ—हे परमेश्वर! मेरे ऊरुओंमें अर्थात् जंघाओंमें (ओजः) बडी शक्ति (अस्तु) होवे ।

मानसिक ध्यान—मेरी सौवर्ष की दीर्घ आयुकी समाप्तितक मेरी जंघाओंमें बडी शक्ति स्थिर रहे । मेरी जंघाएं और मेरे पांव बडे बलवान् और हृष्टपुष्ट होवें । किसी प्रकारकी अशक्तता मेरे पास न आवे ।

अनुष्ठान—पूर्ववत् थोडासा जल जंघाओंपर मर्दन करके सब मनकी शक्तिकी धारणा अब जंघाओंपर कीजिए । इच्छासे वहांकी शक्तिका संवर्धन करनेका उत्साह मनमें रखिये और जंघाओंके अतिरिक्त किसी अन्य बातका चिंतन न करते हुए, तथा बलवान् हृष्टपुष्ट जंघाओंका स्मरण करके पूर्ववत् धारणा स्थिर करनेके पश्चात् निम्न आसनोंमेंसे कोई चार पांच आसन कीजिए । बद्धपद्मासन, पवन-मुक्तासन, श्वासगमनासन, पश्चिमतानासन, वातायनासन, ऊर्ध्वपद्मासन, धनुषासन, वामदक्षिणपादासन, एकपादशिरासन, द्विपादशिरासन, पादांगुष्ठासन, चक्रासन, अर्धवृक्षासन, त्रिकोणासन, उत्कटासन, पादहस्तभुजासन, मत्स्यासन, उष्ट्रासन इनमेंसे कोई चार पांच आसन इस समय कीजिए । इस कार्य के लिये बहुतसे आसन हैं । हरएक आसन प्रत्येक दिनमें करने की कोई आवश्यकता नहीं है । प्रत्येक दिन उलट पुलट करके कोई चार पांच आसन किये जावें तो इस जंघास्थानकी निर्दोषता सिद्ध हो सकती है और वहांका बल बढ सकता है । इन आसनोंका संपूर्ण वर्णन आसनोंकी पुस्तक में पाठक देख सकते हैं ।

ॐ अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह संतु ॥ ७ ॥

अर्थ—हे ईश्वर! (मे अंगानि) मेरे सब अवयव (अ-रिष्टानि) कृश न होते हुए अथवा (अरिष्टानि) हृष्टपुष्ट होतेहुए (मे तन्वा सह) मेरे शरीरके साथ (तनूः) शरीरके सब अवयव उत्तम अवस्थामें (संतु) रहें ।

मानसिक ध्यान—मेरे शरीरके सब अवयव और सब इंद्रिय उत्तम नीरोग, उत्तम बलवान् और उत्तम प्रकारसे हृष्टपुष्ट होकर मेरी सौ वर्षकी दीर्घ आयुकी समाप्तितक उत्तम अवस्थामें रहें, इतनाही नहीं, परंतु मेरा शरीर सौसे भी अधिक आयु प्राप्त करके उत्तम अवस्थामें अंततक रहे । किसी अवयव की अशक्तता मेरे शरीरमें न हो ।

अनुष्ठान—इस समय जलके छींटे सब शरीरपर दीजिए । जिससे सब शरीरमें एक प्रकार की चेतना आजायगी । पूर्व आसनों के कारण जो नस नाडियोंकी शुद्धि हुई थी उनमेंसे खूनका प्रवाह ठीक प्रकार चलेगा और

शरीरपर शीतजलके छींटे गिरनेसे नवीन चेतना प्राप्त होगी । इस समय सब शरीरके आरोग्यका ध्यान कीजिए और जिस प्रकारका सुडौल शरीर आप अपना बनाना चाहते हैं, उस प्रकारके सुडौल, सप्रमाण और सुंदर शरीरका ध्यान कीजिए और अपना शरीर वैसाही बनेगा ऐसा विश्वास रखिए। इस समय आपको निम्न प्रकारके आसन करना उचित है। सर्वांगासन, शीर्षासन, मत्स्येंद्रासन, ऊर्ध्वपद्मासन, शवासन, ऊर्ध्ववृक्षासन, चक्रासन, कूर्मासन, प्रार्थनासन, पूर्णपादत्रिकोणासन, अंगुष्ठासन, चतुरकोणासन, उपधानासन, कंदपीडनासन, द्विपादपार्श्वासन, इनमें से कोई चार पांच आसन इस समय कीजिए । और मनकी प्रबल इच्छाशक्तिद्वारा अपना बल बढ रहा है, अपना सब शरीर नीरोग और स्वस्थ हो रहा है, ऐसा अनुभव कल्पनासे कीजिए। कोई निर्बलताका विचार इस समय मनमें न रहे। तथा इस समय उत्साह, वीर्य, शौर्य, धैर्य, बल, पराक्रम आदि की ही श्रेष्ठ भावना मनमें स्थिर रखिए। अपने आत्मासे उक्त प्रकारका सब बल अपने शरीर में विकसित होगा । इस बातको न भूलिए कि अपने आत्मामें उक्त शक्तियां विद्यमान हैं, आपही अपने मनके संकोच से आत्माकी शक्ति शरीरद्वारा प्रकाशित होनेमें रुकावट डालते हैं। इस लिये इस समय किसी कमजोरीकी कल्पना न करते हुए पांच मिनिटतक सब प्रकारके पूर्ण बलकी भावना मनमें स्थिर रखिए । यदि मनकी भावना स्थिर होगी और किसी प्रकारका विकल्प मनमें न उठेगा तो अपने आत्माकी शक्तिका आपको इसी समय अनुभव हो जायगा । इस लिये इस समय सब शुभ संकल्प मनमें स्थिर रखिए।

इस प्रकार संध्योपासनाकी पूर्व तैयारी कीजिए । इस विधिको करनेसे शरीरकी सब नसनाडियोंकी शुद्धि होगी, वहांके सब दोष और रोग-बीज दूर होंगे और आपका आरोग्य बढनेमें सहायता होगी । इस समय आपका शरीर विविध आसनों में घुमाने के कारण हलका हुआ है ऐसा भास होने लगेगा। यह शरीरका हलकापन ही आरोग्य का चिन्ह है। शरीरका भारीपन न केवल सुस्तीका परंतु रोगी होनेका चिन्ह है। इस प्रकार पूर्व तैयारी करनेके समय आप एक आसनपर बैठही नहीं सकते। जो बात

आप बैठकर कर सकते हैं उसको करनेके समय आपको बैठना उचित है, परंतु जो अन्यान्य आसन हैं वे एकासनमें एकही स्थानपर बैठकर होही नहीं सकते । इसलिये इस पूर्व तैयारीकी समाप्तितक आपको अवश्यही आसनपर बैठना चाहिए ऐसा नहीं है। प्रत्येक मंत्रके योग्य अनुष्ठान करने-केलिये जैसा रहना और हिलना उचित होगा वैसा करनेके लिये आपको अपना पहिला आसन छोडकर यथायोग्य प्रकारसे शरीरको घुमानाही होगा । केवल आसनोंका स्मरण करनेमात्रसे कोई लाभ नहीं होगा । इस कार्यके लिये अपने संध्या करनेके स्थानके पास एक कंबल बिछाकर रखेंगे तो बडी सुविधा हो सकती है । पूर्व तैयारी की समाप्ति होनेके पश्चात् जब आप संध्योपासनाका प्रारंभ करेंगे तब आपको अपना आसन छोड-नेकी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी । सब प्रयोग उक्तप्रकार मनकी धारणा के साथ चित्तका किसी प्रकार विक्षेप न करते हुए यदि आप करेंगे तो आपको सिद्धि प्राप्त हो सकती है अन्यथा नहीं। संशयित मन रखते हुए जो कुछ करेंगे उससे लाभ नहीं हो सकता। अस्तु । इस प्रकारकी पूर्व तैयारी होने के लिये आधे घंटेसे कुछ अधिक समय लगता है । इतना होनेके पश्चात् अब संध्योपासनाका प्रारंभ कीजिए ।

संध्योपासनाका प्रारंभ।

(३) मंत्राचमनम्।

ॐ शं नो देवीरभिष्टय आपो भवंतु पीतये ॥
शंयोरभिस्रवंतु नः ॥ ऋ. १०।९।४; य. ३६।१२

अर्थ—(देवीः आपः) दिव्य जल (नः) हम सबोंके लिये (शं) शांति (अभिष्टये) सहायता और (पीतये) संरक्षण करनेवाला (भवंतु) होवे। तथा वह जल (नः) हम सबोंके लिये (शं) शांति और (योः) रोगादिकों को दूर करनेकी शक्ति (अभिस्रवंतु) देवे।

मानसिक ध्यान—(आचमन करने तथा किसी अन्य समय जल सेवन करनेके कालमें श्रद्धामय विश्वाससे समझना चाहिए कि) यह जल बहुत दिव्य गुणोंसे युक्त है। और इसके सेवन करनेसे प्राणिमात्रके लिये शांति, तृप्ति, स्वास्थ्य, नीरोगता और रोग दूर करनेकी शक्ति प्राप्त हो सकती है। और सब प्रकारका कल्याणही कल्याण हो सकता है। इसलिये इसके सेवन करनेसे मुझे भी आरोग्य, आनंद, बल, दीर्घ आयुष्य, तेज, वीर्य, उत्साह, आदि निःसंदेह प्राप्त होगा। जल (आपः) प्राप्त करने योग्य है, यही (देवीः) देवकी शक्ति है। सर्वव्यापक परमेश्वरकी व्यापक, शांतिमय और पवित्र शक्ति जलरूपसे मुझे और सब प्राणियोंको प्राप्त हो रही है। ईश्वरकी शांतिका मैं इसमें अनुभव कर रहा हूं। निःसंदेह इसके सेवनसे मुझे (शं) शांति प्राप्त होगी। इस जल की सहायतासे सब (अभिष्टये) अभीष्ट शुभ गुण मुझे प्राप्त हो सकते हैं। इसीसे दुष्ट विकारोंका शमन होगा। सब प्रकारका (पीतये) संरक्षण अर्थात् रोगादिकोंसे बचाव इसी जलसे हो सकता है। यह जल स्वास्थ्य

और विषमताके प्रतिकार की शक्ति मेरे शरीरमें स्थापन कर सकता है। हे ईश्वर! तेरी अद्भुत शक्ति है कि जिसके द्वारा तूने इस प्रकारका शुभ गुणकारी जल उत्पन्न करके हम सब प्राणिमात्रोंपर अपार दया की है। इसी तेरी दया की वर्षा हम सबपर सदैव होती रहे।

अनुष्ठान—इस मंत्रका उच्चारण और उक्त ध्यान करनेके पश्चात् जलका आचमन कीजिए और जलकी शांतिका अनुभव अपने अंदर कीजिए।

तीनवार आचमन करनेके पश्चात् निम्न मंत्रोंका उच्चारण करके 'इंद्रियस्पर्श' करना उचित है। संध्योपासनाकी पूर्व तैयारीमें 'अंगस्पर्श' किया है। अब यहां 'इंद्रियस्पर्श' करना है। स्थूल अवयवोंका नाम 'अंग' है और आत्माकी सूक्ष्म शक्तियोंका नाम 'इंद्रिय' है। अंगस्पर्शके मंत्रोंद्वारा स्थूल अवयवोंकी शक्तिका उत्कर्ष करनेका अनुष्ठान किया गया है। अब इस इंद्रियस्पर्शद्वारा अवयवोंके अंदरकी सूक्ष्म आत्मशक्तियोंका विकास करना है। पाठक इस बात को न भूलें। नहीं तो अंगस्पर्श और इंद्रियस्पर्श का उद्देश ही प्रतीत नहीं हो सकता। अंगस्पर्शके मंत्रोंके साथ स्थूल शरीरकी स्थूल शक्तिके ऊपर मनकी धारणा करके उसका विकास करनेका यत्न हुआ है। अब अपने सूक्ष्म शरीर में विद्यमान अनंत सूक्ष्म शक्तियोंका विकास उसी प्रकार मनकी धारणाद्वारा करना है। **इच्छाशक्तिकी प्रेरणा करनेके विना किसी शक्तिका विकास हो ही नहीं सकता**, यही कारण है कि, सालोंसाल संध्याके मंत्र उच्चारते हुए भी संध्योपासनाके लाभसे लोक वंचित ही रहते हैं, और कह देते हैं, कि संध्या करनेसे हमें कोई लाभ नहीं हुआ। इसलिये पाठकोंको अवश्य ध्यानमें रखना उचित है, कि अनुष्ठान के विना केवल मंत्रोच्चारण मात्रसे ही पूर्ण फल कभी प्राप्त नहीं हो सकता। अस्तु। अब निम्न प्रकार अपनी इंद्रियोंकी सूक्ष्मशक्तियों पर अपने मनकी दृढ धारणा करके निम्न साधन का अनुष्ठान कीजिए—

(४) इंद्रियस्पर्शः ।

ॐ वाक् । वाक् ॥ १ ॥

अर्थ—हे (ॐ) ईश्वर! मेरी स्थूल और सूक्ष्म वक्तृत्वशक्ति यश और बल से युक्त होवे।

मानसिक ध्यान—मेरी सौ वर्षकी दीर्घ आयुकी समाप्तितक मेरे मुख में उत्तम प्रभावशाली वक्तृत्व शक्ति स्थिर रहे । तथा मेरी स्थूल और सूक्ष्म वाचामें विलक्षण बल सदा निवास करे और मेरे वक्तृत्वसे सदा ही यशकी वृद्धि होती रहे । अर्थात् मेरे वक्तृत्वके प्रभावसे मेरा यश बढे और दूसरोंको यशका मार्ग विदित होवे । यशकी और शक्तिकी हानि करनेवाला कोई शब्द मेरे मुखसे न निकले ।

अनुष्ठान—पूर्वोक्त प्रकारसे थोडासा जलका स्पर्श मुखपर कीजिए। और उक्त भावना मनमें दृढ धारण कीजिए। अपने मनकी इच्छाशक्ति इस समय अपनी वक्तृत्वशक्तिमेंही स्थिर कीजिए और किसी अन्य बातका स्मरणतक न कीजिए। ऐसा करनेसे अपने मनकी सब शक्ति अपने वागिंद्रियमें जाकर वहांका स्वास्थ्य ठीक करेगी और उस इंद्रियकी शक्ति बढाएगी। इंद्रियस्पर्श के प्रत्येक मंत्रमें 'यशो-बलं' की अनुवृत्ति है। बल के साथ यश भी चाहिए । अंगस्पर्शके मंत्रोंमें 'अरिष्ट' अर्थात् स्वास्थ्य और आरोग्य तथा 'बल' और 'ओज' बढाने की सूचना मिली है। वहांके प्रत्येक मंत्रमें 'अरिष्ट, बल, ओज' की अनुवृत्ति है। केवल स्वास्थ्य और केवल बल बढनेसे पर्याप्ति नहीं हो सकती, जबतक उसके साथ 'यश' न बढे । इंद्रियस्पर्शके मंत्रोंका यही मुख्य उद्देश है, कि हरएक उपासकका विचार 'यश' की ओर खींचा जावे । उपासक यहां अपनी वक्तृत्व शक्तिमें बल बढाने की इच्छा करे, और अपना भाषण यशस्वी सुविचारोंसे परिपूर्ण बनानेका यत्न करे । बुरे शब्दोंके प्रयोगसे यशकी हानि होती है, इसलिये अपने भाषणमें यदि कोई बुरा शब्द प्रयुक्त होता हो अथवा अपने वक्तृत्वमें कोई अन्य प्रकारका दोष हो तो उसे अपनी इच्छाशक्तिसे दूर करनेका यत्न इस समय कीजिए। इच्छाशक्तिकी प्रबलता जिस बातमें होगी उस बातकी सिद्धि प्राप्त होनी है। इसलिये जो उपासक अपने वक्तृत्वमें वीर्य उत्पन्न करना चाहते हैं उनको उचित है कि वे अपने भाषण को बलवान् और ओजस्वी तथा दोषरहित करनेका यत्न करें। जिस सूक्ष्म इंद्रियमें शब्दका प्रथम स्फुरण होता है वहांही निर्दोष शब्दका स्फुरण होवे। बुरे शब्दकी प्रेरणा उत्पन्न होनेके पश्चात् उसको रोकना योग्य है, परंतु यदि बुरे शब्दकी प्रेरणाही उत्पन्न न हुई तो सबसे

अच्छा है । बुराई पैदा करके उसका नाश करनेकी अपेक्षा मूलमें बुराई पैदाही न हो तो सबसे उत्तम है । इसलिये इस समय यशस्वी बलवान् वक्तृत्वकाही चिंतन कीजिए। इसके पश्चात्—

ॐ प्राणः प्राणः ॥ २ ॥

अर्थ—मेरा प्राण बलवान् होकर यशके साथ संयुक्त होवे ।

मानसिक ध्यान—मेरी सौ वर्षकी पूर्ण आयुकी समाप्तितक मेरे दोनों नासिकाओंके द्वारा संचार करनेवाला प्राण उत्तम बलवान् होकर यशके मार्गमें जीवन व्यतीत करनेका उत्साह उत्पन्न करे ।

अनुष्ठान—जीवन और प्राण एक दूसरेसे पृथक् रह नहीं सकते। अपना जीवन बल उत्साह और वीर्यसे युक्त करनेकी सूचना यहां मिलती है, तथा अपने संपूर्ण जीवनमें सर्वत्र विजय प्राप्तिपूर्वक बडा यश संपादन करनेका निश्चय करना हरएक को उचित है। प्राणके बलपर ही दीर्घ जीवन अवलंबित होता है इसलिये इस मंत्रका ध्यान करतेहुए निम्न प्रकारसे प्राणायाम का अभ्यास करना योग्य है । प्राणायाम करनेके समय अपनी इच्छाशक्तिमें यह विचार स्थिर रखना चाहिए कि मैं प्राणायामादि योग-साधनद्वारा नीरोगतापूर्वक दीर्घजीवन अवश्य प्राप्त करूंगा और सब विघ्नोंको दूर करके अपना और जनताका हित करनेके महान् पुरुषार्थ अवश्य करूंगा । इस समय करने योग्य चार प्रकार के प्राणायाम हैं। (१) **एक-पाद प्राणायाम**—जितनी देरमें पूरक किया जायगा, उतनी ही देरमें कुंभक और उसके सवागुणा समय में रेचक करनेसे एकपाद प्राणायाम होता है । (२) **द्विपाद प्राणायाम**—जितने समय में पूरक किया जा-यगा उसके दुगुणी देरमें कुंभक और उसके देडगुणा समय में रेचक कर-नेसे द्विपाद प्राणायाम सिद्ध होता है। (३) **त्रिपाद प्राणायाम**—जि-तनी देरमें पूरक होगा उससे तीन गुणे समयमें कुंभक और पौने दो गुणे समयमें रेचक करनेसे त्रिपाद प्राणायाम सिद्ध होता है। (४)**चतुष्पाद प्राणायाम**—जितने काल में पूरक किया जायगा उसके चार गुणा सम-यमें कुंभक और दुगणे समयमें रेचक करनेसे इसकी सिद्धि होती है। प्रत्येक दिन प्रारंभमें ये चारों प्राणायाम चार, तीन, दो और एक इस प्रमाणमें करना उचित है। क्रमपूर्वक करनेसे कुंभक का अभ्यास बढ जाता

है । प्रथम दिन एक पाद प्राणायाम चारवार, द्विपाद प्राणायाम तीनवार, त्रिपाद प्राणायाम दोवार और चतुष्पाद एकवार कीजिए । प्रत्येक पंद्रह दिनके पश्चात् प्राणायामकी एक एक संख्या बढाइए इस प्रकार प्रायः एक वर्षकी अवधिमें एकपाद प्राणायाम वीस अथवा पचीस वार करनेकी योग्यता प्राप्त हो सकती है । जब पचीसवार पहिला प्राणायाम होने लगेगा, तब एकपाद प्राणायाम बंद करके आगेके तीनही करते रहिए । अब पूर्व प्रकार ही प्रत्येक पंद्रह दिनमें प्रत्येक प्रकारके प्राणायामकी संख्या एक एक बढानेका क्रम वैसा ही रखना चाहिए । इस प्रकार दूसरे वर्षकी समाप्तितक शेष तीनोंमेंसे दूसरे प्रकारके प्राणायामकी संख्या चालीसतक होने लगेगी । इस समय द्विपाद प्राणायाम बंद करके केवल अंतके दोही प्राणायाम करते रहिए । पूर्वोक्त प्रकार पंद्रह दिनोंमें एक संख्या बढातेहुए तृतीय वर्षकी अवधिमें तीसरे प्रकारके प्राणायाम की संख्या साठतक सुगमतासे हो सकती है । इस समय त्रिपाद प्राणायाम बंद करके केवल चतुष्पाद प्राणायामकाही अभ्यास करना योग्य है । यही चतुष्पाद प्राणायाम मुख्य और पूर्ण प्राणायाम है । अन्य प्राणायाम इसकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये साधन मात्र हैं । प्राणका स्थान फेंफडोंमें है । फेंफडोंमें बल लानेके लिये उन साधक प्राणायामोंकी आवश्यकता है । कई लोक हठसे क्रमपूर्वक प्राणायाम न करते हुए एकदम चतुष्पाद प्राणायाम बलात्कार से करने लग जाते हैं, ऐसा अविचार करनेसे छातीमें तथा अन्य इंद्रियोंमें विविध प्रकारकी व्याधियां उत्पन्न होती हैं । जब व्याधियां उत्पन्न होती हैं, तब वे कहते हैं कि प्राणायामसे यह हानि होगई; परंतु वास्तवमें अविचार के कारण व्याधि होनी है न कि प्राणायाम के कारण । इस लिये यहां उपासकोंको सावधान किया जाता है कि वे क्रमपूर्वक शनैःशनैः प्राणायाम का अभ्यास प्रतिदिन किया करें । एक वर्षकी सिद्धि दो वर्षोंमें होगई तो कोई हानि नहीं है, परंतु सिद्धिको लालचसे शीघ्रता और हठ करने से बडी हानि हो सकती है । सात्विक भोजन करनेवालोंको प्राणायाम से बडा लाभ होता है, परंतु जो मांसाहार आदि करते हुए, तथा शराब, तमाखू, चाय, काफी आदि पदार्थों का सेवन करते हुए प्राणायाम करने लगते हैं, उनको बडा नुकसान होता है । इस लिये उपास-

कोंको उचित है, कि वे सब प्रकारके दुर्व्यसन छोड देवें और शुद्ध सात्विक भोजन करने लगें तथा ब्रह्मचर्य पूर्वक प्राणायाम का अभ्यास प्रतिदिन करें। जो ऐसा करेंगे उनको आनंद ही आनंद प्राप्त होगा, और प्राणायाम के ही समय एक प्रकारके अद्वितीय अमृतरसका स्वाद मुखमें चलता रहेगा। और क्रमशः अन्य लाभ भी होते रहेंगे ॥ प्राणायाम की संख्याके विषय में ऊपर लिखाही है। अब प्राणायामके समयकी अवधिके विषयमें थोडासा लिखना उचित है। नासिकाद्वारा श्वास अंदर लेनेके क्रिया को 'पूरक' कहते हैं, प्राणको अंदर स्थिर रखनेके अभ्यासको 'कुंभक' कहते हैं और नासिकाद्वारा फिर बाहिर छोडनेको 'रेचक' कहते हैं। 'पूरक—कुंभक—रेचक' मिलकर एक प्राणायाम होता है। पूरक—कुंभक—रेचक की अवधिकी न्यूनाधिकतासे विविधप्रकारके प्राणायाम बन जाते हैं, जिनमेंसे चार प्राणायाम ऊपर दिये हैं। और येही प्रतिदिन करने योग्य हैं। इनमें भी चतुष्पाद प्राणायाम सबसे मुख्य और पूर्ण है, और अन्य उसकी तैयारी के साधक हैं। 'पूरक—कुंभक—रेचक' की अवधिका प्रमाण प्रथम आरंभमें अंकोंकी गिनतीसे करना योग्य है। जैसा—प्रथम दिन एकपाद प्राणायाम छः अंकोंकी गिनतीतक पूरक, छः अंकोंकी गिनतीतक कुंभक और आठ अंकोंकी गिनतीतक रेचक करना। इसीदिन चतुष्पाद प्राणायाम निम्न प्रकार होगा—छः अंकोंसे पूरक, चौवीस अंकोंसे कुंभक और बारह अंकोंसे रेचक। इसके बीचके प्राणायाम इसी हिसाबसे पाठक समझ सकते हैं। स्पष्ट होनेके लिये प्रथम दिनका प्रमाण नीचे देता हूं—

		पू. कुं. रे.			
एक पाद प्राणायाम		—६×६×८	अंकतक	चार	प्राणायाम।
द्विपाद	,,	—६×१२×९	,, ,,	तीन	,,
त्रिपाद	,,	—६×१८×१०	,, ,,	दो	,,
चतुष्पाद	,,	—६×२४×१२	,, ,,	एक	,,

प्रति पंद्रह दिनोंमें एक एक अंककी अवधि बढानेकी योग्यता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार साधारणतया एक वर्षमें प्राणायाम की अवधि निम्नप्रकार हो सकती है—

		पू. कुं. रे.				
एक पाद प्राणायाम	—	२४×२४×३०	अंक	अवधिके	२४	प्राणायाम
द्विपाद	,,	—२४×४८×३६	,,	,,	१८	,,
त्रिपाद	,,	—२४×७२×४२	,,	,,	१२	,,
चतुष्पाद	,,	—२४×९६×४८	,,	,,	६	,,

जब आपका इतना अभ्यास होगा तब आप चतुष्पाद प्राणायाम करनेके समय (१) एक गायत्री मंत्रसे पूरक, (२) चार गायत्री मंत्रसे कुंभक और (३) दो गायत्री मंत्रसे रेचक करके समंत्रक प्राणायाम कर सकते हैं। गायत्री मंत्रमें २४ अक्षर हैं इस लिये ऐसा करना इस समय सुगम होगा। परंतु प्रारंभमें अंकोंके हिसाबसे करना सुगम है। विना हिसाबके यदि करेंगे तो आपको अपनी योग्यताका पता नहीं लग सकता। इसके अतिरिक्त यदि कोई अन्य रीति आप ढूंढ सकेंगे तोभी कार्यभाग हो सकता है। तात्पर्य इतनाही है कि क्रमपूर्वक शनैःशनैः अभ्यास होना चाहिए।

जब दो तीन वर्षोंके अभ्याससे आप पूर्ण प्राणायाम लगातार विना विश्रामके ८० तक कर सकेंगे, तब समझिए कि आपका अभ्यास उत्तम होगया है। गायत्री मंत्रसे एक पूर्ण प्राणायाम करनेके लिये डेढ मिनिट लगता है। इस हिसाबसे ८० प्राणायामके लिये दो घंटेका समय लगेगा। सर्व साधारण व्यावहारिक जनोंके लिये इतना समय प्रत्येक संध्योपासना के समय निकालना कठिन होगा। ऐसी अवस्थामें प्राणायामों की संख्या कम करना योग्य है। परंतु बीससे कम नहीं होना चाहिए। संख्याकी न्यूनतासे सिद्धिमेंभी न्यूनता होगी ही, इसका कारण स्पष्टही है।

इसप्रकार प्राणायामोंकी संख्या और प्राणायामकी अवधिका विचार होगया। जिसके पास जितना समय होगा वह उतना अभ्यास करे। जो जितना अभ्यास करेगा उसको वैसा लाभ होगा। प्रारंभमें बहुत अभ्यास नहीं करना चाहिए, परंतु एक वर्षके अभ्याससे फिर अपनी शक्ति के अनुसार करनेमें कोई हर्ज नहीं है। प्राणायाम करनेके समय मनमें यह भावना स्थिर रखना चाहिए कि विश्वव्यापक परमेश्वरीय प्राणशक्ति श्वासके साथ मेरे अंदर जा रही है और मैं उस अमृतरूप प्राणका पान कर रहा हूं

तथा कुंभकद्वारा उस प्राणको मैं अपने शरीर के प्राणमें स्थिर कर रहा हूं और रेचकद्वारा शरीरस्थ सब मलोंको बहिर फेंक रहा हूं । इस प्रकार मेरे अंदर प्रत्येक प्राणायामके साथ नवीन दिव्य जीवनका संचार हो रहा है और शरीरके दोष कम हो रहे हैं । इस भावनाकी मनमें स्थिरता करनेसे अपूर्व प्रसन्नता प्राप्त होती है ।

प्राणायाम करनेके समय विशेषतः अपना शरीर समसूत्रमें रखना चाहिए । पीठके मणके, गला और सिर सीधा समसूत्रमें रखना चाहिए । दिवार के साथ आप बैठेंगे तो पीठ, सिरका पिछला भाग और चूतडों का पीछला भाग दीवारके साथ स्पर्श करे । गलेको आगे झुकने नहीं देना चाहिए । पीठके मणकोंमेंसे बुद्धिका प्रवाह चल रहा है । पीठ समसूत्रमें रखनेसे और उक्त प्रकार प्राणायाम करनेसे बहुत लाभ हो सकते हैं । बुद्धि और उत्साह बहुत बढता है और आयुष्य की वृद्धिभी होनी है । प्राणायामसे सब शरीरके अवयव और मन आदि इन सबकी प्रफुल्लता होनी है । और जब प्राणायामद्वारा सब शरीर निर्मल होता है, तब पूर्ण नीरोगताकी प्राप्ति हो सकती है । प्राण और मन ये दोही शक्तियां सब शरीरमें मुख्य हैं । इनकी स्वाधीनता प्राणायामसे होनी है । इसीलिये कहते हैं कि योगकी क्रियाओंमें प्राणायाम सबसे प्रमुख है । अस्तु । इस प्रकार प्राणायामका अभ्यास करनेके पश्चात् निम्न मंत्र पढिए—

ॐ चक्षुः । चक्षुः ॥ ३ ॥

अर्थ—मेरा नेत्र इंद्रिय यश और बलसे युक्त होवे ।

मानसिक ध्यान—मेरी सौ वर्षकी दीर्घ आयुकी समाप्तितक मेरे दोनों नेत्र तथा स्थूल सूक्ष्म नेत्र-इंद्रिय उत्तम बलवान होकर यशकी प्राप्तिके कर्म करनेमें सुफलता प्राप्त करे । मेरे से नेत्रोंद्वारा कोई ऐसा कर्म न होवे कि जिससे नेत्रोंकी दुर्बलता अथवा किसी प्रकारसे मेरे यशकी हानी हो सके ।

अनुष्ठान—पूर्वोक्त प्रकार थोडासा शीत जल दोनों नेत्रोंको लगाइए और प्रेमसे अपने नेत्रोंपर से दोचार बार हाथ घुमाइए। इस समय अपने मनकी सब शक्ति नेत्रोंमें प्रेरित कीजिए और पूर्ण उज्ज्वल नेत्रकी अव-

स्याका चिंतन कीजिए। जिस प्रकारकी उत्तम दृष्टि आप चाहते हैं उस प्रकारकी दृष्टि उत्पन्न हो रही है ऐसी भावना मनमें रखिए । और अपने दृष्टिके सब दोष दूर होने लगे हैं ऐसा विचार मनमें स्थिर कीजिए । विकल्प न उत्पन्न हुआ और शुभ विचार की स्थिरता हो गई तो दृष्टि उज्ज्वल होने लगती है। इस समय निम्न प्रकार अनुष्ठान कीजिए। (१) नासाग्र-दृष्टि=अपनी नासिकाके अग्रभागमें दोनों आंखोंकी दृष्टि वेधक रीतिसे लगाना चहिए । जितनी देर आप दृष्टि स्थिर रख सकेंगे उतनी देर स्थिर रखिए। किसी दूसरे पदार्थका कोई विचार मनमें न लाइए। जब दृष्टि थक जायगी तब एकदम उस दृष्टिको किसी दूरके पदार्थ पर स्थिर कीजिए। यह पदार्थ अपने कमरे में हो अथवा किसी बहिरके दृश्य में हो। एक दो मिनिट वहां स्थिर करके फिर आप अपनी दृष्टिको—(२) भ्रूमध्य-दृष्टि=कर सकते हैं। अपने दोनो भौंहोंके बीच के स्थान पर अपने नेत्रों की वेधक दृष्टि स्थिर करना इस समय उचित है। नासिकाग्र दृष्टिसे भ्रूमध्य दृष्टि थोडीसी कठिन है। दोनों स्थानोंमें दृष्टि स्थिर करना प्रथम अवस्थामें कठीन प्रतीत होता है, परंतु दो तीन महिनोंके निरंतर अभ्यास से दृष्टि स्थिर होने लगती है। छः मासके अभ्यास से स्थिरता का अच्छा अनुभव आने लगता है। तथा एक वर्षके निरंतर अभ्यास से अच्छी प्रकार दृष्टिकी स्थिरता होने लगती है । इस प्रकार दृष्टिकी स्थिरतासे दृष्टिमें एक प्रकारका वीर्य आता है, दृष्टि वेधक बनती है और नेत्रोंकी चंचलता हटने लगती है। जो उपासक मनकी स्थिरता के साथ इसका अभ्यास प्रतिदिन करेंगे, उनको एक वर्षके अंदर चित्तकी स्थिरता का अनुभव हो जाता है, और जागृतिका भान नष्ट होने और उच्च भूमिका का दर्शन होनेकाभी अनुभव प्राप्त हो सकता है। समाधि की यह पूर्व तैयारी है, इस लिये पाठक इस अनुष्ठान का उपहास न करते हुए विश्वास से करते रहेंगे, तो उनको भी स्वयं अनुभव हो जायगा । (३) दृष्टि की स्थिरता—इस समय दृष्टिकी स्थिरता करने का भी अभ्यास करना उचित है। अपने आसन से कुछ थोडे अंतर पर रखे हुए किसी तेजस्वी चमकीले पदार्थ पर दृष्टिकी स्थिरता करने का अभ्यास कीजिए । कुछ देर आप ऐसी दृष्टि स्थिर करेंगे तो आपको ऐसा भान होगा कि सिवाय

उस पदार्थ के और कोई पदार्थ वहां नहीं है । जितनी देरतक आप इस प्रकार स्थिर चित्त होकर बैठ सकेंगे उतनी वेधकता आपकी दृष्टिमें उत्पन्न होगी । दूसरेके चित्तपर प्रभाव जमानेकी योग्यता इस प्रकार प्राप्त हो सकती है । मानसिक इच्छाशक्तिद्वारा दूसरोंके रोग दूर करनेकी योग्यता इस अनुष्ठानसे आपकी दृष्टिमें आसकती है ॥ पूर्वोक्त तीनों प्रकार के अभ्यास से 'योगनिद्रा' का भी उपासकों को अनुभव प्राप्त हो सकता है । 'योगनिद्रा' की अवस्था समाधिसे निचले दर्जेपर है परंतु इस से अभौतिक स्वास्थ्यकी प्राप्ति हो सकती है । जिस भावनाकी मनमें स्थिरता करके योगनिद्रा प्राप्त होगी उसी भावनाका उस समय साक्षात्कार हो सकता है अर्थात् आरोग्य की भावना मनमें स्थिर करके योगनिद्रामें जानेसे शरीरके रोग निवृत्त हो सकते हैं । यह अनुभव की बात है इस लिये बिना संशय उपासक उक्त दृष्टियोंका अभ्यास कर सकते हैं । अंगस्पर्शके मंत्रोंमें कहे दृष्टिविषयक अभ्यास के पश्चात इस अभ्यासको करना है । आठ वर्षकी आयुमें इस प्रकार का अभ्यास प्रारंभ होनेसे दृष्टिकी सब प्रकारकी कमजोरी दूर होती है और वृद्ध अवस्थामें भी उपनेत्रों (ऐनक) की आवश्यकता नहीं होती । जिस किसी आयुमें इस अभ्यासको योजनापूर्वक करते और शनैःशनैः बढाते जानेसे बडा लाभ होता है ।

ॐ श्रोत्रं । श्रोत्रम् ॥ ४ ॥

अर्थ—मेरी श्रवण इंद्रिय यश और बलसे युक्त हो ।

मानसिक ध्यान—मेरी सौ वर्षकी पूर्ण आयुकी समाप्तितक मेरी श्रोत्र इंद्रिय उत्तम बलवान रहे और यश बढानेके श्रेष्ठ कार्यमें सदा तत्पर रहे । मैं अपने कानोंसे कभी बुरे शब्द नहीं सुनूंगा तथा किसी अन्यप्रकार अपनी श्रवणशक्तिका दुरुपयोग नहीं करूंगा । तथा मैं कोई ऐसा आचरण नहीं करूंगा कि जिससे मेरी श्रवणशक्ति क्षीण हो सके ।

अनुष्ठान—पूर्वोक्त प्रकारसे कानोंको थोडासा जलस्पर्श कीजिए और अपने मनकी धारणा अपने श्रवण इंद्रियपर कीजिए । यदि आपकी श्रवणेंद्रियमें कोई क्षीणता अथवा व्याधिकी दुर्बलता अथवा न्यूनता हो तो

उसको दूर करनेके लिये इस समय आज्ञा दीजिए । आपका मन यदि आपके स्वाधीन होगा तो आपकी आज्ञाका तत्काल पालन करेगा । और यदि स्वाधीन न होगा तो उसको निश्चय से स्वाधीन करनेका इसी प्रकार धारणासेही प्रयत्न कीजिए । अब आप पूर्ण और उत्तम श्रवणशक्तिकी भावना मनमें धारण कीजिए और मनको इधर उधर न दौडाते हुए वैसाही आपका श्रवण इंद्रिय है, और उसके सब दोष दूर होगये हैं, तथा उसीप्रकार पूर्ण आयुकी समाप्तितक अपना श्रवण इंद्रिय परिपूर्ण अवस्थामें रहेगा, ऐसा संकल्प दृढ रखिए । इस समय कोई दूसरा विकल्प मनमें न आने दें । ऐसा अभ्यास प्रति दिन करनेसे बडाही लाभ होता है ।

ॐ नाभिः ॥ ५ ॥

अर्थ—मेरे नाभिस्थानकी सब प्रकारकी समान शक्ति बल और यशसे युक्त हो ।

मानसिक ध्यान—मेरे नाभिस्थानमें समान नामक प्राण है उसके अंदर उत्तम बल प्राप्त होवे । इस समान-प्राणसे सब शरीरकी समानता प्राप्त होती है और सब प्रकारकी विषमता दूर होती है । मेरी समान शक्ति उत्तम बलवान होकर मेरी सौवर्षकी दीर्घ आयुकी समाप्तितक अपना कार्य उत्तम प्रकार करनेमें समर्थ होवे और इस शक्तिसे मैं युक्त होकर यशसे पूर्ण यशस्वी बनूंगा ।

अनुष्ठान—पूर्वोक्त प्रकार सीधे हाथमें थोडासा जल लेकर नाभि और उसके आसपासके चारों ओर के छः छः अंगुलतक पेटके भागपर शनैः शनैः लगाइए । लगानेका प्रकार भी ध्यानमें रखिए । नाभिस्थानपर थोडासा जलस्पर्श कीजिए और उसको मध्य मानकर नाभिके चारों ओर वर्तुल खींचतेहुए गीला हाथ घुमाइए । सीधी तरफ से बायें तरफ वर्तुल खींचा जावे और प्रारंभमें छोटा और पीछेसे बडा खींचा जावे । प्रारंभमें विना बलसे और पश्चात् बलके साथ हाथ घुमाकर सब जल वहां शुष्क किया जावे । जल इतना लेना चाहिए कि सब पेटके ऊपर अच्छी प्रकार लग सके तथापि नाभिमें बहुत जल नहीं लगाना चाहिए । इस समय पूर्वोक्त मानसिक ध्यान करके निम्न अनुष्ठान कीजिए=(१) नाभिस्थान

का अभ्युत्थान—नाभिके समेत सब पेटको ऊपरकी पसलियोंके अंदर खींचनेका यत्न कीजिए। ऐसा करनेसे पेट पसलियोंमें चला जायगा और नाभिका स्थानभी दो तीन अंगुल ऊपर चले जायगा। इस अवस्थामें कमसे कम एक मिनिटतक अथवा जितनी अधिक देर आप बैठ सकें उतना बैठिए। इस अभ्युत्थानका अभ्यास प्रतिदिन पांच अथवा दश मिनिट करना उचित है। इससे क्षुधा प्रदीप्त होती है और पेटकी कमजोरी दूर होती है तथा समान प्राणकी अवस्था बलवान होने लगती है। यह अभ्युत्थानका अभ्यास साधारण अवस्थामें भी बडा लाभदायक है। (२) **नाभिमांस—स्तंभन**—पूर्वोक्त प्रकार नाभि और पेट को ऊपर पसलियोंमें खींच लीजिए और पश्चात पेटके दांये बांये भागको पीछेही रख कर, बीचमें मांसका स्तंभसा बनाकर आगे बढा दीजिए। पसलियोंसे प्रारंभ होकर नाभिके नीचे छः अंगुलतक बराबर एक स्तंभ जैसा खडा होगा, जिसकी चौडाई तीन उंगलियां और ऊंचाई बारह चौदह अंगुलियोंतक, जितना पेटका विस्तार होगा, होगी। इस प्रकार थोडा थोडा अभ्यास कीजिए। (३) नौलि—पेट समेत नाभिस्थान के सब भाग को दाहिनेसे बाएं और बाएं से दाहिने शीघ्र गतिसे घुमाना। इस समय पालथी लगाके बैठना और कंधोंको नीचे नमाना चाहिए। अपने आसनपर बैठतेहुए दोनों हाथ सामने जमीनपर रखिए और इस नौलीको कीजिए। (४) इससमय नाभिस्थानके भागको गोल भंवर के समान भी घुमानेका यत्न कीजिए। ये चार अभ्यास इस समयके अनुष्ठानमें करना उचित है। यदि समय हो तो इन चारोंको कीजिए, और समयके अभावमें कोई एक तो अवश्य कीजिए। इस अभ्याससे जठर अग्निका दीपन होता है। भूख बहुत लगने लगती है और भूख लगनेसे सब शरीरका आरोग्य भी प्राप्त होता है। जो लोक क्षुधा प्रदीप्त करनेके लिये विविध औषधियां लेते हैं और अपने शरीरमें मोल लेकर विष डालते हैं, उनको उचित हैं कि वे इस विधिको करते जांय। विना औषधि सेवन करनेके उन का अग्नि प्रदीप्त हो जायगा और स्वास्थ्य भी ठीक होगा। अस्तु। इस अभ्यासको करनेके समय अपनी सब इच्छाशक्ति पेट और नाभिस्थानमें प्रेरित करना चाहिए और उसको जाठराग्निकी प्रदीप्तिमें लगानी चाहिए। तथा मनमें यह भाव

धारण करना चाहिए कि मैं इस विधिके अभ्याससे नाभिस्थानके समान प्राणको उत्तम बलवान बनाकर अवश्यही दीर्घायु प्राप्त करूंगा। और किसी प्रकारके विघ्नोंसे निरुत्साहित नहीं होऊंगा।

ॐ हृदयम् ॥ ६ ॥

अर्थ—मेरा हृदय बलवान और यशस्वी होवे।

मानसिक ध्यान—मेरी सौ वर्षकी दीर्घ आयुकी समाप्तितक मेरा हृदय उत्तम बलवान और अपना कार्य करनेमें सब प्रकार से योग्य होवे। मेरे हृदयके सबही भाव ऐसे शुद्ध और प्रेमपूर्ण होवें की जिनसे प्रेरित होता हुआ मैं शुभ पुरुषार्थ करता हुआ उत्तम यशका भागी हो जाऊं। मेरे अंतःकरणमें कोई ऐसा भाव न आवे कि जो व्यक्ति और जनताके घातका कारण हो सके तथा सब शुद्ध विचारोंका प्रवाह मेरे अंतःकरणसे सदा चलता रहे।

अनुष्ठान—पूर्वोक्त प्रकार सीधे हाथपर थोडासा जल लेकर हृदयपर वर्तुल गतिसे मल लीजिए और मनमें शुद्ध और प्रेमपूर्ण भाव धारण करके अपना सीधा हाथ अपने हृदयपर रखिए कि जहां अंदर हृदयकी क्रिया चलती रहती है। मन शांत रखेंगे तो आपके हाथको अपने हृदयके चलनेकी गतिका भी इस समय ज्ञान हो जायगा। इस समय मनमें परमात्माकी शुद्ध भक्ति और सब जनताके कल्याणका प्रेममय शुद्ध भाव रखिए। सब बुरे भावोंको दूर रख कर सब अच्छे भाव हृदयमें धारण कीजिए। किसीके अथवा अपनेभी बुरे भावोंका इस समय चिंतन न कीजिए। शुभ कल्पनाएं कीजिए और जिस शुभ गुणकी आप कल्पना करेंगे उसके पराकाष्ठाकी कल्पना कीजिए। शुभ गुणके पराकाष्ठाकी कल्पना ही परमेश्वरकी कल्पना है यह न भूलिए। एक एक शुभ गुणकी पराकाष्ठा मनमें स्थिर करनेका यत्न कीजिए, विशेषतः जो जो निर्बलता आपमें होगी, उस निर्बलताके विरुद्ध श्रेष्ठ सद्गुण की कल्पना कीजिए। अर्थात् अपनी निर्बलताका स्मरण न करते हुए केवल उस श्रेष्ठ गुणकी परमावधिकी कल्पना अपने मनमें स्थिर करनेका यत्न कीजिए कि जो गुण आपकी निर्बलताका विरोधी है। यदि आपमें ब्रह्मचर्यका अभाव होगा तो वीर्यक्षीणताकी क-

ल्पना न करते हुए पूर्ण ब्रह्मचर्यका अथवा पूर्ण ब्रह्मचारीके बलका स्मरण कीजिए। उस विचार से मनको ऐसा परिपूर्ण कीजिए कि उस शुभ विचारके जलसे अपना मन पूर्णतासे भर जावे। इसी प्रकार सब अन्य शुभगुणोंके विषयमें समझना उचित है। अपने हृदयपर हाथ रखकर मनमेंही कहिए कि "यही आत्माका स्थान है, तेजस्वी अंगुष्ठ मात्र पुरुष यहां निवास कर रहा है वह ही मैं हूं। मैं शरीरसे भिन्न और आत्माही हूं। मैं तेजस्वी हूं। यही आत्माकी नगरी है। यही दिव्यपुरी है। यही स्वर्गधाम है। मैं शुद्ध होकर इस नगरीमें प्रविष्ट होऊंगा। बुरी भावनाओंके प्रबल होनेके कारण मुझे इस अयोध्यानगरीसे दूर जाकर अरण्यवास लेना पडा है। दुष्ट भावनारूप राक्षसोंका नाश करके और शुभविचारोंको पास करके मैं यशस्वी बनकर अपनी राजधानी में अवश्य विराजमान होऊंगा। यह हृदय ही मेरी राजधानी है। मैं इस स्वर्गभवनमें योगसाधन द्वारा अवश्य प्रवेश करके वहांके तेज और अमृतका अवश्यही अनुभव लूंगा। यही देवोंकी नगरी है यही स्वर्ग है और यही "**मानस-सरोवर**" है, इसीमें मेरे हंस रूप प्राण क्रीडा कर रहें हैं। इसी स्थानमें सब योगी भक्तजन जाते हैं और आत्मिक दिव्यशक्तिका अनुभव करते हैं। मैं भी उसी मार्गसे जाऊंगा और आत्माका अनुभव अवश्य लूंगा। मैं सबको मित्रकी दृष्टिसे देखूंगा। सब जगतपर मेरी प्रेमकी दृष्टि रहेगी। सब जनताके हितमें मैं दक्ष रहूंगा। क्योंकि सबके हितमें ही मेरा हित है। मैं सत्यका पालन करूंगा और अपना वायुमंडल शुद्ध ही रखूंगा। हे परमात्मन्! मैं आपके पास शुद्ध होकर आ गया हूं। कृपा करो और मेरा सारथ्य करो।" इस प्रकार के भाव मनमें इस समय स्थिर कीजिए और हृदय को शुद्ध बनाइए।

ॐ कंठः ॥ ७ ॥

अर्थ—मेरा कंठ बलवान और यशस्वी होवे।

मानसिक ध्यान—मेरी सौ वर्षकी पूर्ण दीर्घ आयुकी समाप्तितक मेरा कंठ बलवान और उत्तम शब्दका ध्वनि प्रकाशित करनेका साधक होवे और मैं स्वर साधनसे उत्तम यश को प्राप्त होऊंगा।

अनुष्ठान—पूर्वोक्त प्रकारसे थोडासा जल गलेके चारों ओर लगाइए और निम्न प्रकार कंठासन कीजिए । (१) **कंठबंध**—गलेको सिकोडकर ठोडी छाती और गलेकी संधिमें डाटके लगानेसे कंठबंध होता है । गलेके मूल स्थानमें दोनों तरफकी हड्डियोंके बीचमें अंगूठा रखने योग्य नरमसा स्थान है वहां ठोढी लगना चाहिए । इससे पीठके रीढके मणियोंका स्थान ठीक होता है जिसके कारण आयुष्य बढने में सहायता होती है । बहुधा मनुष्यका सिर आगे झुकता रहता है, इस दोषके कारण पीठकी रीढके मणि अपने स्थानसे हिलते हैं और उनमें जो ज्ञानरसके तंतुओंका प्रवाह चलता रहता है उसको प्रतिबंध होता है । इस कारण सब शरीरमें विविध रोग बढते हैं । इस कंठबंधसे सब पीठकी रीढके मणि अपने अपने स्थानमें ठीक जम जाते हैं और ज्ञानरसके तंतुओंका प्रवाह विना प्रतिबंध चलता है । मस्तकसे गुदातक पीठकी रीढके मणियों में ज्ञानतंतुओंका स्थान है । इडा पिंगला सुषुम्ना नामक तीन प्रवाह इनमें हैं । इनको ठीक करनेका कार्य कंठबंधके आधीन है, इसलिये उपासक इसका अनुष्ठान ठीक प्रकार करें । (२) **कंठपृष्ठबंध**—पूर्वोक्त कंठबंध छोडकर मस्तकको सीधा पीठकी ओर लेजाकर मस्तकका पृष्ठभाग गलेके पृष्ठभागके मूलमें लगा देना । इस समय आंख सीधी ऊर्ध्व दिशामें हो जाती हैं । कंठबंध में गलेका छातीके तरफका भाग सिकुड गया था, उसी प्रकार इसमें गलेका पृष्ठभाग सिकुड जाता है और अच्छी प्रकार छाती आगे फैलती है । इसका प्रयोजनभी पूर्व स्थानमें लिखा हुआ ही है । (३) सिरको दाईं ओर बाईं ओर क्रमशः जितना ले जा सकें उतना लेजानेका यत्न करना चाहिए । प्रत्येक बाहुपर ठोढी को लगानेका यत्न करनेसे यह आसन बनता है । (४) सीधे कानको सीधे बाहु पर और पश्चात् दूसरे कानको दूसरे बाहु पर लगानेका यत्न करना चाहिए । इसको क्रमशः करनेसे गलेकी नस नाडियोंकी निर्मलता हो जाती है । (५) सिंहासन करनेसे भी गलेकी शुद्धि होती है । इन सब आसनों और बंधोंको करनेके समय अपने मनकी शक्तिको कंठस्थानमें स्थिर करना चाहिए और इच्छाशक्तिको वहां की निर्दोषता सिद्ध करनेके लिये आज्ञा देनी चाहिए । अपना गला बाहिरसे मजबूत और अंदरसे शब्दोच्चारके लिये सुरेल, सुस्वर करना चाहिए ।

वर्णोच्चारण उत्तम होना आवश्यक है तथा गलेके स्नायु बलवान होनेसे वृद्धावस्थामें सिरका कंप नहीं होता ।

ॐ शिरः ॥ ८ ॥

अर्थ—मेरा सिर बलवान और यशस्वी बने ।

मानसिक ध्यान—मेरी सौ वर्षकी दीर्घ और पूर्ण आयुकी समाप्ति-तक मेरा सिर बुद्धिके अद्भुत कर्म करने में समर्थ, उत्तम विचार करने-वाला, और सुविचारोंका प्रचार करनेके कारण यशस्वी होवे। मेरी बुद्धिमें बुरा और हानिकारक विचार कभी न आवे । मेरा मस्तक सुविचारोंका केंद्र बने ।

अनुष्ठान—सिरपर थोडासा जलका स्पर्श करके बिलकुल स्तब्ध होकर अपने मस्तक में जो विचारका स्थान है उसका ध्यान कीजिए । शुद्ध और निर्मल विचारों का यह केंद्र बने और कभी कुत्सित विचार के लिये वहां स्थान न मिले । इस प्रकार मनको आज्ञा दीजिए । मेरुके पृष्ठपर जो देव-सभा है वह यही है । पीठकी रीढके सब मणिमाला को मेरु पर्वत कहते हैं । इन मेरु पर्वोंके ऊपर मस्तिष्कमें देवोंकी सभा है । इस लिये उपा-सकको इस समय उक्त देवसभाका ध्यान करना चाहिए । सब इंद्रियोंका नाम देव है और उन सब देवोंकी सभा मस्तिष्कमें है । शरीर देवोंका मंदिर है और मस्तिष्क देवोंका सभास्थान है, इस भावना को मनमें दृढ करके निश्चय कीजिए कि मैं अपने सब इंद्रियोंको देवता बनाऊंगा और मस्तिष्क को देवोंका सभागृह बना दूंगा । मनुष्यका मनुष्यत्व उसके सिरमें और उसके हृदयमें है । जैसे जिसके सिर और हृदय होंगे वैसी उसकी योग्यता होती है । इस लिये दृढ निश्चयसे अपने मस्तिष्ककी शुद्धिका विचार इस समय करना चाहिए ।

ॐ बाहुभ्यां यशो बलम् ॥ ९ ॥

अर्थ—मेरे बाहुओंमें बल और यश प्राप्त होवे ।

मानसिक ध्यान—मेरे बाहुओंमें उत्तम बल प्राप्त होवे । मेरे बाहु हृष्टपुष्ट सुप्रमाण और सुडौल होकर सदाही बलसे संपन्न रहें । मेरे बाहु

बलवान बनें और सदा सज्जनोंका संरक्षण और दुर्जनोंका निवारण करनेके पवित्र पुरुषार्थमें समर्थ होनेसे यशसे युक्त होवें।

अनुष्ठान—इस समय पुनः बाहुओंपर पूर्वोक्त प्रकार जलका मर्दन करके अपनी इच्छाशक्तिकेद्वारा बाहुबलका ध्यान करना चाहिए। अपना जिस प्रकारका बाहुबल आप बनाना चाहते हैं उस प्रकारके बाहुबलसे युक्त अपने बाहु हो रहे है ऐसी भावना मनमें दृढ कीजिए। और बाहुओंकी शक्ति बढाने योग्य योगके आसन इस समय कीजिए। भुजंगासन, हंसासन, उष्ट्रासन, मयूरासन, लोलासन, दोलासन, हस्तवृक्षासन आदि आसन इस समय कीजिए। अथवा बाहुओंका बल बढनेके अन्य आसन जो आप योग्य समझते हैं इस समय कर सकते हैं। परंतु संपूर्ण अनुष्ठानमें बाहुबलके विस्तारकाही पूर्ण विचार मनमें स्थिर और प्रबल करना चाहिए तबही अच्छा फल हो जाता है।

ॐ कर-तल-कर-पृष्ठे ॥ १० ॥

अर्थ—मेरे हाथके तल और उनके पृष्ठभाग बलवान् और यशस्वी होवें।

मानसिक ध्यान—मेरे हाथ सब श्रेष्ठ प्रकारका हाथोंका कर्म करनेमें समर्थ और बलवान् होवे। और उनके प्रशस्त कर्मसे मुझे यशकी प्राप्ति होवे। मेरे हाथ कभी बुरे कर्म करनेके लिये प्रवृत्त न होवे।

अनुष्ठान—पूर्वोक्त प्रकार हाथोंको थोडासा जलका स्पर्श करके एक हाथ दूसरे हाथसे बलसे पकड लीजिए और उस पकडसे पहिले हाथको छुडाइए। इसीप्रकार फिर पकडनेवाले हाथको पकडेहुए हाथसे बलके साथ पकडकर छुडवानेका प्रयत्न करना। जो हाथ पकडा होता है उसको घुमाकर छुडाना चाहिए जिससे अंगुलियोंमें रुधिरका ठीक संचार होनेमें सहायता होती है। इसप्रकार करनेसे आपकोही हलकेपनका अनुभव हो जायगा। और हलकापनही आरोग्य है इसमें कोई संदेह नहीं। इस समय एकएक अथवा सब अंगुलियोंको करपृष्ठकी ओर खेंचिए और पश्चात् करतलकी ओर अंदर दबाइए। अंगुलीके प्रत्येक पर्वको इस प्रकार अंदर और बाहर अर्थात् आगे और पीछे खींचनेसे संपूर्ण हाथके संधिस्थानकी

शुद्धि होती है। पर्वोंके संधिमें जो दोष होते हैं उनकी इसप्रकार निवृत्ति होजाती है।

इसप्रकार शेष अवयवों और इंद्रियोंके बलवर्धनका प्रयत्न और उनको यशोवर्धक पुरुषार्थमें प्रवृत्त करनेका निश्चय करना चाहिए। इतनी सूचना करनेसेही अपनी अन्य कमजोर इंद्रियोंको बलवान् बनानेका यत्न उपासक पूर्व कही प्रक्रियाके अनुसारही विचार और युक्तिपूर्वक करते रहें। प्रत्येक इंद्रिय और अवयवको नीरोग, बलवान् और सत्कर्ममें प्रवृत्त करनेके उपाय भिन्न भिन्न हैं, उनको पाठक विचारकी दृष्टिसे जान सकते हैं। आशा है कि पाठक इसप्रकार अपने आपको परिपूर्ण बनानेका पुरुषार्थ करेंगे। अंगस्पर्शके मंत्रोंद्वारा अंगोंकी नीरोगता और सबलता सिद्ध होगई थी, अब इन इंद्रियस्पर्शके मंत्रोंद्वारा इंद्रियोंकी सबलता और उनकी यशस्वी शुभकर्मोंमें प्रवृत्ति होगई है। अब सब अवयवों और इंद्रियोंकी पवित्रता संपादन करना है उस कार्यकेलिये निम्न लिखित मार्जन है।

(५) मार्जनम्।

ॐ भूः पुनातु शिरसि॥ १॥

अर्थ—हे (ॐ) परमेश्वर! (भूः) मेरा अस्तित्व (शिरसि) मेरे सिरमें (पुनातु) पवित्रता करे।

मानसिक ध्यान—हे परमात्मन्! मेरा अस्तित्व, मेरा जीवन, मेरा चालचलन, मेरा व्यवहार, मेरा मस्तक अर्थात् विचारके स्थानकी पवित्रता करे। मेरे जीवनमें ऐसा कोईभी व्यवहार न हो कि जिससे मेरा सिर कुत्सित विचारसे युक्त हो सके।

अनुष्ठान—जलके छींटे सिरपर दीजिए। और अपने अस्तित्व, जीवन, चालचलन, व्यवहार आदिका निःपक्षपातसे विचार कीजिए। आपके जीवनसे आपके सिरपर बुरेभले संस्कार हो रहे हैं। आप अपने बाह्य व्यवहारसे दूसरोंको धोखा दे सकते हैं, परंतु आप स्वयं अपने आपको धोखा नहीं दे सकते। इसलिये अपने मस्तिष्ककी शुद्धिके लिये अपना

चालचलन शुद्ध करनेका पक्का निश्चय कीजिए। अपने किसी अवयव अथवा इंद्रियसे यदि किसी प्रकारका दुष्ट व्यवहार होता होगा, तो वैसा दुराचरण फिर न करनेका पूर्ण निश्चय कीजिए। मैं जीवनसे शुद्ध होकर अपने मस्तिष्कको पवित्र विचारोंका केंद्र बनाऊंगा ऐसा पूर्ण निश्चय कर लीजिए। और अपने चालचलनके सब दोष दूर कीजिए। परमेश्वरको सन्मुख समझकर उनके सामने उक्त प्रकार प्रतिज्ञा कीजिए।

ॐ भुवः पुनातु नेत्रयोः ॥ २ ॥

अर्थ—हे ईश्वर! मेरा (भुवः) ज्ञान मेरे नेत्रोंकी पवित्रता करे।

मानसिक ध्यान—हे परमात्मन्! मेरा ज्ञान ऐसा उत्तम हो कि जिससे मेरी दृष्टि शुद्ध बने। मेरे पास किसी समय ऐसा कोई विचार न आवे कि जिससे मेरी दृष्टिमें किसी प्रकारका भी दोष उत्पन्न हो सके।

अनुष्ठान—अपने नेत्रोंपर जलके छींटे दीजिए। आप जगतके पदार्थोंके तरफ किस दृष्टिसे देख रहें हैं इसका विचार इस समय कीजिए। आपकी दृष्टि शुद्ध और पवित्र होनी चाहिए। मित्रकी सत्य, शुद्ध और पवित्र दृष्टि आपके पास है वा नहीं, इसका विचार कीजिए। स्त्री, पुरुष, उच्च नीच धन बल आदिके पास देखनेके समय आपकी पवित्र दृष्टि चाहिए। हीन दृष्टिसे किसीको न देखिए। ज्ञानसेही आपकी दृष्टिमें पवित्रता आती है। इसलिये जो आप पढते, सुनते, बोलते, कहते हैं और उक्त प्रकारसे जो ज्ञानका व्यवहार आप कर रहे हैं, उससे आपकी दृष्टिकी पवित्रता बढ रही है या नहीं, इसका विचार कीजिए। यदि आपके ज्ञान ग्रहण करनेकी रीतिमें कोई दोष हों तो उनको दूर कीजिए। और अपनी दृष्टिकी पवित्रता जिस प्रकारके ज्ञानसे होगी उस प्रकारका ज्ञान प्राप्त कीजिए।

ॐ स्वः पुनातु कंठे ॥ ३ ॥

अर्थ—हे ईश्वर! मेरी (स्वः) आत्मशक्ति मेरे कंठकी पवित्रता करे।

मानसिक ध्यान—हे परमात्मन्! मेरा सत्व, मेरी निजशक्ति, मेरा आत्मिक बल, जो (स्वः—स्वर्—सु+वर्) सबसे वर अर्थात् श्रेष्ठ है, सबसे उत्तम है वह मेरी निजशक्ति मेरे कंठकी पवित्रता करे। मेरे श-

ब्दोंमें पवित्रता रहे । मेरे शब्दोंसे आत्मिक पवित्रता प्रकट होवे । ऐसा कभी न होवे कि मेरे शब्दोंद्वारा अवनतिके विचार फैलें ।

अनुष्ठान—कंठपर जलके छींटे दीजिए । कंठ शब्दका स्थान है वहांही 'उदान-प्राण' रहता है । उदान प्राणकी उपासनासे योगीकी सर्वोत्तम उच्चगति होती है । इसलिये उपासक को कंठकी पवित्रता संपादन करना आवश्यक है । आचमनादिद्वारा कफनिवृत्तिपूर्वक स्थूल कंठकी पवित्रता इससे पूर्व हो चुकी है । यहां कंठकी पवित्रताका तात्पर्य पवित्र शब्दोच्चारसे है । वाक्शक्ति ही मनुष्यका 'स्व-त्व' है, क्योंकि इसीसे मनुष्यकी विशेषता अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा है । इससे पूर्व सिरकी पवित्रतासे पवित्र विचारोंकी सिद्धि और नेत्रकी पवित्रतासे दृष्टिकी पवित्रताकी सिद्धि हो चुकी है । विचारकी पवित्रताके पश्चात् उच्चारणकी पवित्रता अब करना है । उपासकको उचित है कि अपने मनुष्यत्वकी विशेषता वाणीके कारण इस कंठमें है, इस बातको इस समय स्मरण करे और बुरे शब्दोंका उच्चारण कभी न करनेका पूर्ण निश्चय परमेश्वरस्मरण पूर्वक इस समय करे । अपनी वाणीमें जो दोष हों उनको हटानेका प्रयत्न करे और निज आत्मशक्तिका विकास वाणीद्वारा करनेके लिये अपनी पराकाष्ठा करे ।

ॐ महः पुनातु हृदये ॥ ४ ॥

अर्थ—हे परमेश्वर ! मेरी (महः) श्रेष्ठतासे मेरे हृदयकी पवित्रता होवे ।

मानसिक ध्यान—हे परमात्मन् ! मेरे आत्माकी जो श्रेष्ठता है उससे मेरा हृदय पवित्र बने । सदा उच्च और प्रशंसनीय विचार और भाव मेरे हृदयमें निवास करें । आत्मिक श्रेष्ठतासे सदाही मेरा हृदय श्रेष्ठ बना रहे ।

अनुष्ठान—हृदयपर जलके छींटे दीजिए । और अपनी आत्मिक श्रेष्ठता, पूर्णता और पवित्रताका ध्यान कीजिए। आप अपने अंदर जो न्यूनताका अनुभव कर रहे हैं वह प्राकृतिक है, वह आपका निज आत्मिक स्वरूप नहीं है । जो आपके हृदयमें चित्शक्ति है और जो आपका निज-स्वरूप है, जिसका तेज सब शरीरमें फैल रहा है, वह दिव्य आत्मशक्ति बडीही अद्भुत है । आपके प्राकृतिक, स्थूल, मर्यादित, संकुचित, हीनभावोंके

कारण आत्माके असली निजरूपकी शक्तिका विकास और प्रकाश होनेमें रुकावट हो रही है। इस लिये अपने हृदयमें अमर्याद भक्ति, अमर्याद मित्रता, अमर्याद प्रेम बढाइए और इसकी सिद्धिके लिये अपने आत्माके प्रभाव, गौरव और श्रेष्ठत्वका चिंतन कीजिए। अपने आपको हीन, पतित और बुरा न समझें। इस समय जो भाव आप अपने आत्माके अंदर है ऐसा मानेंगे वही वहां प्रकट होगा, इसलिये अपनी पूर्णताका ध्यान कीजिए। पूर्ण परमात्माके अग्निमें तप्त होनेसे आपका जीव आत्माभी वैसाही तेजस्वी है, ऐसी भावना मनमें धारण कीजिए। प्रभुके अत्यंत समीप रहनेका जिसको स्वयंसिद्ध अधिकार है वह जीवात्मा हीन कभी नहीं हो सकता। इसलिये इसकी श्रेष्ठतासे अपने हृदयकी पवित्रता और श्रेष्ठता संपादन कीजिए। अपने हृदयके मानस सरोवरमें जो लहर उठेगी, वही सब शरीरके जगतमें फैल जाती है, इसलिये शुभभावनाकी श्रेष्ठतापूर्ण ही लहर अर्थात् भावना इस हृदयमें उत्पन्न होने दें। सब प्रकारके द्वेष और हीनभाव दूर रखिए और शुभ विचार ही पास कीजिए। आत्माका स्वाभाविक तेज हृदयमें फैलाइए। इस समय आत्माकी अद्भुत शक्तिका ध्यान कीजिए और जो शुभगुण अपनेमें धारण करना चाहते हैं उस गुणसे युक्त अपार सामर्थ्यशाली परमात्मामें अपने आपको मान लीजिए। इसप्रकार जिस गुणकी धारणा आप करेंगे उसगुणसे युक्त आप स्वयं बन जायगे। इस प्रकार प्रतिदिन करनेसे जिस प्रकारकी हृदयकी पवित्रता आप करना चाहते हैं उस प्रकारका पवित्र और श्रेष्ठ हृदय आपका निश्चयसे बन जायगा। इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

ॐ जनः पुनातु नाभ्याम् ॥ ५ ॥

अर्थ—हे परमेश्वर! मेरी (जनः) जननशक्ति नाभिस्थानकी पवित्रता करे।

मानसिक ध्यान—हे परमेश्वर! मेरी प्रजननशक्तिसे मेरा नाभिस्थान पवित्र होवे। ऐसा कोई कार्य मेरेसे न होवे कि जिससे मेरी यह शक्ति क्षीण हो सके।

अनुष्ठान—प्रजनन अर्थात् संतान उत्पन्न करनेकी शक्ति नाभि और उसके निचले भागमें रहती है। इसके स्थिर और पवित्र होनेसे नाभि-

स्थानकी पवित्रता होती है। इसका तात्पर्य इतनाही है कि वीर्यकी स्थिरता शरीरमें उत्तम प्रकारसे होनेके कारण 'समान-प्राण' शरीरमें बलवान् रहता है और उसके ठीक रहनेसे सब शरीरका आरोग्य प्राप्त होता है। वीर्यकी क्षीणता होनेसे 'समान-प्राण' निर्बल हो जाता है और उसके अशक्त होनेसे शरीरमें विविध रोग बढने लगते हैं। इसलिये वीर्यके स्थिर होनेके द्वारा 'समान-प्राण' के नाभिस्थानकी पवित्रता प्राप्त करना आवश्यक है। जनन इंद्रियके संयमद्वारा इस स्थानकी पवित्रता प्राप्त की जा सकती है। आयुके प्रथम पचीस वर्षके भागमें पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने और गृहस्थाश्रममें ऋतुगामी होनेसे वीर्यकी स्थिरता और नाभिस्थानकी पवित्रता प्राप्त हो सकती है। ब्रह्मचर्य पालनके विषयमें इतनाही कहना यहां आवश्यक है कि जिनके विचार शुद्ध और पवित्र होते हैं, उनकाही ब्रह्मचर्य स्थिर रह सकता है। मनके द्वारा, स्त्री आदि विषयका चिंतन करना छोडनेसे तथा मनको राष्ट्रीय सार्वजनिक तथा ईश्वरविषयक महान् शुभकर्मोंमें लगानेसे वीर्यकी स्थिरता प्राप्त होती है। योगसाधन करनेमें रुचि बढानेसेभी जननस्थानकी पवित्रता प्राप्त हो सकती है। नाभिस्थान और वीर्य पवित्र होनेसे उत्तम संतान उत्पन्न होता है। तथा योगसाधनद्वारा दीर्घ आयु, नीरोगता, चित्तादिककी प्रसन्नता तथा अन्य योगफल प्राप्त हो सकते हैं। अपना मन शुभ विचारोंसे युक्त करके जननइंद्रियादिक के जो जो दोष अपनेमें होंगे उनकी निवृत्ति करनेका इस समय दृढनिश्चय करना चाहिए।

ॐ तपः पुनातु पादयोः ॥ ६ ॥

अर्थ—हे ईश्वर! मेरी (तपः) कष्ट सहन करनेकी शक्ति पावोंकी पवित्रता करे।

मानसिक ध्यान—हे परमात्मन् ! मेरा तपका अभ्यास अर्थात् शीतोष्णादि सहन करनेका अभ्यास पांवआदि स्थूल अवयवोंकी पवित्रता करे। मेरा कोई अवयव ऐसा निर्बल न हो कि जो शीतउष्णके सहन न होनेसे रोगी होवे। मेरे सब अवयव उत्तम सहनशक्तिसे युक्त होकर निर्दोष रहें।

अनुष्ठान—शीतउष्ण, सुखदुःख, हानिलाभ, नरम और सख्त आदि द्वंद्वोंको सहन करनेका अभ्यास तप है। शीतकालमें शीतको सहना और उष्णकालमें उष्णताको सहन करना, तथा सुखदुःख अथवा हानिलाभके कारण प्रारंभ कियेहुए सत्कर्मसे निवृत्त नहीं होना। इसी प्रकार अन्य द्वंद्वोंका अभ्यास करना चाहिए। यह अभ्यास अन्य समयमें करना चाहिए। तपके अभ्याससे ऋतु बदलनेपरभी शरीर नीरोग रह सकता है। बाह्य परिस्थिति बदल जानेपरभी शरीरकी समता तपके अभ्यासके कारण ठीक प्रकार रहती है। अपने शरीरके लिये जिसप्रकारके तपकी आवश्यकता है उस प्रकारका तप निश्चयपूर्वक मैं करूंगा और पांवआदि स्थूल शरीरकी सहनशक्ति अवश्य बढाऊंगा, ऐसा यहां निश्चय करना चाहिए। अपने शरीरकी कमजोरी किस बातमें है और उसको दूर करनेके लिये किस प्रकारका तप करना चाहिए, इसका इस समय विचार और निश्चय कीजिए।

ॐ सत्यं पुनातु पुनः शिरसि॥ ७॥

अर्थ—हे परमेश्वर! (पुनः) फिर मेरे सिरमें सत्य पवित्रता करे।

मानसिक ध्यान—मेरी सत्यकी निष्ठासे मेरा मस्तिष्क पवित्र होवे। मैं आग्रहसे सत्यका पालन करूंगा। सत्यका अवलंबन करूंगा। मैं निश्चय करता हूं कि मैं असत्यका त्याग करके अवश्यही सत्यका पालन करूंगा।

अनुष्ठान—प्रारंभमें सिरकी पवित्रता अपने चालचलनकी शुद्धताके द्वारा संपादन करनेकी सूचना दीगई है। इस मंत्रमें सत्यनिष्ठाके अभ्याससे पुनः सिरकी पवित्रता करनेका उपदेश किया है। सिरकी पवित्रता वारंवार करनेका उद्देश स्पष्ट ही है, क्योंकि मस्तिष्क (दिमाग) से ही मनुष्यकी उच्चनीचता सिद्ध होती है। केवल सत्यका आग्रहही एक उपाय है कि जिससे मनुष्यका मस्तिष्क पवित्र हो सकता है। मनुष्यकी वृत्ति लालचमें फंसती है और असत्यमें प्रवृत्त होती है। इसलिये प्रबल निष्ठासे और निर्लोभतासे सत्यका आग्रहके साथ पालन करना चाहिए। जितना सत्यका पालन होगा उतनी मस्तिष्क की शुद्धि हो सकती है। यहां उपासकको उचित है कि वह देखे कि अपने प्रतिदिनके आचरणमें सत्यका

कहांतक पालन हो रहा है और असत्य कहांतक अंदर घुस रहा है। प्रत्येक समय अपने चालचलनका निरीक्षण सत्यकी कसौटीसे करना चाहिए और सत्यके पालनमें प्रतिदिन अधिक अधिक प्रवृत्ति करनेका यत्न करना चाहिए।

ॐ खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥ ८ ॥

अर्थ—ओंकार वाच्य (खं) आकाशवत् व्यापक ब्रह्म सर्वत्र पवित्रता करे। तथा (अ+उ+म्) जागृति स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन मेरी अवस्थाएं तथा मेरी (खं) सब इंद्रियें और मेरा (ब्रह्म) ज्ञान सर्वत्र मेरी पवित्रता करे।

मानसिक ध्यान—परमात्मा सर्वव्यापक होनेसे वह सबकी पवित्रता सदा सर्वत्र करता है, इसलिये वह मुझेभी पवित्र बनावे। तथा मैंभी अपनी पवित्रता करनेकेलिये तत्पर रहूंगा। मैं अपनी जागृति स्वप्न और सुषुप्तिमें अर्थात् सब जीवनमें पवित्रताका जीवन व्यतीत करूंगा। सब इंद्रियोंको पवित्र मार्गमें प्रवृत्त करूंगा तथा अपने ज्ञानसे सर्वत्र पवित्रताका प्रचार करूंगा।

अनुष्ठान—इस समय शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव परमात्माकी पवित्रताका ध्यान कीजिए। तथा अपनी सब अवस्थाएं, सब अवयव और इंद्रिय तथा अपना सब प्रकारका ज्ञान अपनेको पवित्रताकी ओर ले जा रहा है या नहीं, इसकी अच्छीप्रकार परीक्षा कीजिए। और सर्व साधारणतासे अपने आध्यात्मिक सुधारका चिंतन कीजिए।

इस प्रकार इस अनुष्ठानमें अपनी पवित्रता संपादन करनेका यत्न कीजिए। अंगस्पर्शके समय नीरोगता, स्वास्थ्य और बलका यत्न होगया। इंद्रियस्पर्शके समय बलके साथ यशप्राप्तिका यत्न होगया। अब इस मार्जन (शुद्धि) विधिमें अपने सब इंद्रियादिकोंकी शुद्धता करनेका प्रयत्न होगया है। इस प्रकार स्वास्थ्य, यश और पवित्रताकी प्राप्तिके पश्चात् अब प्राणायाम कीजिए।

(६) प्राणायामः।

ॐ भूः। ॐ भुवः। ॐ स्वः। ॐ महः।
ॐ जनः। ॐ तपः। ॐ सत्यम्॥

अर्थ—हे (ॐ) परमात्मन्। (भूः) अस्तित्व, (भुवः) ज्ञान, (स्वः) स्वत्व, (महः) श्रेष्ठता, महत्व, (जनः) जननशक्ति, (तपः) द्वंद्व सहन करनेकी शक्ति, (सत्यं) सत्यनिष्ठा इन सब अपनी शक्तियोंको मैं प्राणके निरोधसे स्वाधीन रखता हूं अर्थात् इन शक्तियोंका संयम मैं करता हूं।

मानसिक ध्यान—हे परमात्मन्! मैं अपनी प्राणशक्तिके निरोधसे प्राणायामद्वारा अपनी सब शक्तियोंका संयम करता हूं। क्योंकि प्राणके आधारसेही उक्त सब शक्तियोंकी स्थिति है। मेरा अस्तित्व अर्थात् जीवन, ज्ञान, स्वत्व, महत्व, जननसामर्थ्य, तप और सत्यपालन, ये सब संयमद्वारा मेरे स्वाधीन हो जावें। प्राणायामद्वारा मनका संयम और इंद्रियोंका दमन होकर अपनी सब शक्तियां मेरे स्वाधीन रहें। कभी कोई इंद्रियकी शक्ति उच्छृंखल न होवे। अपनी सब शक्तियां स्वाधीन होनेसेही मैं उनको अपनी उन्नतिके अभीष्ट कार्यमें ठीक प्रकार लगा सकता हूं।

अनुष्ठान—यहां पूर्वोक्त प्रकारका पूर्ण अर्थात् चतुष्पाद प्राणायाम करना चाहिए। प्रारंभमें केवल तीन वारही करना उचित है। प्रत्येक पंद्रह दिनके अभ्यासके पश्चात् एक संख्या बढाइए इसप्रकार अस्सी(८०) तक बढाना योग्य है। उपासक अपनी इच्छा और शक्तिके अनुसार न्यून अथवा अधिक संख्यामें प्राणायाम करते रहें। पूर्वोक्त पूर्ण प्राणायाम ८० करनेके लिये दो घंटेका समय अवश्यही लगता है। जिसके पास समय होवे वह अवश्य करे। क्योंकि प्राणायामका साधन होनेसेही योगसे साध्य उच्च भूमिकाओंमें प्रवेश होने योग्य अवस्थाकी प्राप्ति होती है। प्राणायाम करनेके समय उक्त सात शक्तियां प्राणके द्वारा अपने अंदर बढा रहीं हैं ऐसी भावना मनमें धारण करना चाहिए। पूरकके समय शक्तियोंकी प्राप्ति, कुंभकके समय शक्तियोंकी स्थिरता और रेचकके समय दोषोंका निरास हो रहा है, ऐसी भावना करनेसे बडा लाभ होता है। उक्त

सात शक्तियां अपना गौरव बढानेवाली हैं । प्रत्येक शक्तिकी श्रेष्ठता अवर्णनीय है, इसलिये प्रत्येक शक्तिका विकास होनेकी आवश्यकता है । उपासक प्रयत्न करके उक्त शक्तियोंका विकास अपने अंदर करें ।

(७) अघमर्षणम् ।

(ऋषिः—अघमर्षणो माधुच्छंदसः । देवता—भाववृत्तम् ॥)

ॐ ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ॥
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ॥
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥
सूर्याचंद्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥
दिवं च पृथिवीं चांतरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

ऋ. १० । १९०

अर्थ—(अभि-इद्धात्) प्रदीप्त (तपसः) आत्मिक तपके तेजसे ऋत और सत्य ये सार्वकालिक और सार्वभौमिक नियम प्रथम (अधि-अजायत) उत्पन्न हो गये । (ततः) पश्चात् (रात्रि अजायत) प्रलयकी रात्रि होगई । और तदनंतर प्रकृतिका समुद्र (अर्णवः) अशांत हो गया । इस प्रकृतिके प्रक्षुब्ध समुद्रसे (संवत्सरः) काल (अधि अजायत) उत्पन्न हो गया । (विश्वस्य मिषतः) सब जगत्के हलचलको (वशी) वशमें रखनेवाले (धाता) विधाता ईश्वरने (यथापूर्वं) पूर्वके समानही आकाश, द्युलोक, अंतरिक्ष, पृथिवी, सूर्य, चंद्र, दिन, रात, आदि सब (विदधत्) बनाया और (अकल्पयत्) अपने अपने स्थानमें सुरक्षित रख दिया है ॥

मानसिक ध्यान— इस संपूर्ण जगतके समान पूर्व कल्पमेंभी इसीप्रकार यथायोग्य सब जगत् था । उसके प्रलयके समयमेंभी परमात्माके ऋत और सत्य नामक अटल नियम अपना कार्य कर रहे थे । अर्थात् ये नियम जैसे सृष्टिमें कार्य करते हैं उसीप्रकार प्रलयके समयभी दक्षतासे

कार्य करते रहते हैं । पूर्व सृष्टिके अंतके पश्चात् प्रलय रात्रिका प्रारंभ हुआ । नियत समय जानेके पश्चात्, जब दूसरी सृष्टि उत्पन्न होनेका समय प्राप्त हुआ, तब दिव्य मूल प्रकृतिके अंदर हलचल होने लगी । परमात्माके ऋत और सत्य नियम जगतकी रचना करने योग्य हलचल करने लगे । जिसके कारण प्रकृतिके भयानक विशाल समुद्रके अंदर बडी हलचल मची । इससे समयकी उत्पत्ति हो गई । जगतकी सब हलचलको अपने आधीन रखनेवाले परमेश्वरने इसके पश्चात् इस वर्तमान जगतकी उत्पत्ति की । उसने यह संपूर्ण जगत् वैसाही रचा कि जैसा पूर्वकल्पमें था॥

जिस प्रकार मनुष्य दिनका कार्य करके सो जाता है और दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर फिर कलका अधूरा कार्य समाप्त करनेकेलिये प्रयत्न करने लगता है । उसी प्रकार पूर्वकल्पके अंतकी अवस्था इस कल्पके प्रारंभमें शुरू हो गई है । पूर्वकल्पके अंतमें जो जिसका जैसा पापपुण्य, सुकृत दुष्कृत आदि था, वैसा ही इस कल्पके प्रारंभमें, उसको प्राप्त होगया है । बीचके प्रलयसे अपने अपने पापपुण्यमें न्यूनाधिकता नहीं हुई । जिस प्रकार रात्रिकी गाढ निद्रासे अपने कलके सुकृत दुष्कृत नष्ट नहीं होते, परंतु सब जैसेके तैसेही आजके भोगके लिये स्थिर रहते हैं, ठीक उसीप्रकार प्रलयकी महारात्रि और कालनिद्रासेभी पूर्वकल्पके पापपुण्य जैसेके तैसेही जीवोंके साथ रहते हैं । अर्थात् जो नियम "दैनिक निद्रा" और प्रलयकालिक "कालनिद्रा" के विषयमें है वही मृत्युकी "महानिद्रा" के विषयमेंभी समझना उचित है । तात्पर्य उक्त नियमके अनुसार पूर्वजन्मके सुकृत दुष्कृत मृत्युकी महानिद्राके कारण नष्ट नहीं होते, परंतु द्वितीय जन्मके समय जीवको जैसेके तैसेही प्राप्त होते हैं । मृत्युसे पूर्वशरीर नष्ट हो जानेके कारण पूर्व जन्मके सुकृत दुष्कृत नष्ट नहीं होते। इससे बोध यही है कि जिसके जो सुकृत अथवा दुष्कृत होते हैं, वे उसको वैसेही भोगने पडते हैं । अर्थात् मुझे भी अपने दुष्कृतों और पापोंका दंड अवश्यही भोगना पडेगा । परमेश्वरके ऋत और सत्य नियम मुझे नहीं छोडेंगे, फिर मैं अपने दुराचारको कहां छिपा सकता हूं? इसलिये सबसे उत्तम यही है कि मैं अपने दुराचारका दंड भोगनेके लिये स्वयंही उद्यत हो जाऊं और अपने किये पापोंको छुपानेके लिये और नये

पाप न करूं। इसलिये अब सरल भावसे मैं अपने नियमविरुद्ध आचरणका दंड भोगनेकेलिये तैयार होता हूं और प्रार्थना करता हूं कि—"हे परमेश्वर! मैं अपने किये दुष्कर्मोंका दंड भोगनेके लिये तैयार हूं। मैं कभी अपने पाप नहीं छुपाऊंगा। अपने दोषोंको सरल रीतिसे दूर करनेका यत्न करूंगा। गत ········समयमें ·········ये दुष्कर्म मैंने किये। मैं उनको छुपाना नहीं चाहता। परंतु उनका परिणाम भोगकरही उनसे निवृत्त होना चाहता हूं। साथही मैं यहां पश्चात्तापपूर्वक प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं जानबूझकर इसप्रकारके कोई बुरे विचार, हीन उच्चार और कुत्सित आचार भविष्यकालमें कभी नहीं करूंगा। हे ईश्वर! मैं असत्यको छोडकर सत्यका अवलंबन करता हूं। मैं पवित्र बनकर तेरी शरण आता हूं। मुझे आश्रय दो।"

अनुष्ठान—मनमें यह विचार स्थिर रखना चाहिए कि, व्यक्ति, समाज, जाति, राष्ट्र, जनता और जगतमें एकही अटल नियम है कि जिससे सब सृष्टिका प्रवाह चलाया जा रहा है। भूतकालमें किये अच्छे बुरे कर्मका भला और बुरा परिणाम जैसा व्यक्तिको वैसाही राष्ट्रकोभी अवश्य भोगनाही चाहिए। इसलिये हरएकको उचित है कि वह प्रतिदिन आत्मपरीक्षा करके अपने वैयक्तिक और जातीय अथवा राष्ट्रीय दोषोंको जानकर, उनको दूर करनेका प्रयत्न विचारपूर्वक किया करे। स्वपक्षके दोषोंका मंडन और परपक्षके गुणोंका खंडन पक्षपातपूर्वक करनेसे यद्यपि सभाओंमें विजय प्राप्त किया जा सकता है, तथापि उससे कभी अभ्युदय हो नहीं सकता। इसलिये अपने राष्ट्रके दोषोंका इस समय विचार करना और उनको दूर करनेका पुरुषार्थ करना चाहिए। यही (अघ—) पापको (—मर्षण) सहना, अर्थात् अपने किये दुराचारके परिणामका बुरा फल भोगनेको उद्यत रहना है। यही सच्चा प्रायश्चित्त है। चित्तशुद्धिका यही उत्तम उपाय है॥

व्यक्तिमें और जनतामें कौनसे गुण और कौनसे दोष होते हैं उसका विचार मनके द्वारा सूक्ष्म विचारके साथ परिभ्रमण करनेसे हो सकता है। यही कार्य "मनसा परिक्रमण"के मंत्रोंद्वारा अब कीजिए—

(८) मनसा परिक्रमणम् ।

ॐ प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिता-
ऽऽदित्या इषवः ॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो
नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो
अस्तु ॥ यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं
वो जंभे दध्मः ॥ १ ॥

अथर्ववेद ३।२७।

अर्थ—(प्राची दिक्) उदयकी दिशाका (अग्निः अधिपतिः) तेजस्वी स्वामी, (अ–सितः रक्षिता) बंधनरहित रक्षक, और (आदित्याः इषवः) प्रकाशरूप शस्त्र हैं ॥ (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) तेजस्वी स्वामियों-कोही (नमः) मेरा नमन है । उन (रक्षितृभ्यः नमः) बंधनरहित संर-क्षकोंके लियेही हमारा आदर है । उन (इषुभ्यः नमः) प्रकाशके शस्त्रोंके सामनेही हमारी नम्रता रहेगी । (एभ्यः नमः अस्तु) इनके लिये ही हमारी नम्रता रहे । (यः) जो अकेला (अस्मान्) हम सब आस्ति-कोंका (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यं) जिस अकेले दुष्टका (वयं) हम सब धार्मिक पुरुष (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (तं) उस दुष्टको हम सब (वः) आप सब सज्जनोंके (जंभे) न्यायके जबडेमें (दध्मः) धर देते हैं ।

मानसिक ध्यान—प्राची दिशा अभ्युदय, उदय और उन्नतिकी सू-चक है । सूर्य, चंद्र, नक्षत्रआदि सब दिव्य पदार्थोंका उदय और उन्नति इसी दिशासे होती है और उदयके पश्चात् उनको पूर्ण प्रकाशकी अवस्था प्राप्त होती है । इस लिये सचमुच यह प्रगतिकी दिशा है । जिस प्रकार इस उदयकी दिशासे सबका उदय और वर्धन हो रहा है उसीप्रकार हम सब मनुष्योंका अभ्युदय और संवर्धन होना चाहिए । यह पूर्व दिशा हम सब मनुष्योंको उदय प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है । इस शिक्षाके अनुसार हम सबको मिलकर अभ्युदयकी तैयारी करनी चाहिए । इस

सूचना और शिक्षाका ग्रहण करके मैं अपने और जनताके अभ्युदयके लिये अवश्य यत्न करूंगा। उदयकी दिशाका (अग्निः) अग्रणी, ज्ञानी और वक्ता अधिपति है। उदयका मार्ग ज्ञानी उपदेशोंद्वाराही ज्ञात हो सकता है, इसलिये हम सब लोक ज्ञानी उपदेशकोंके पास जाकर जागृतिके साथ उनका उपदेश ग्रहण करेंगे। अब सोनेका समय नहीं है। उठिए, जागृतिका समय प्रारंभ हुआ है। चलिए, तेजस्वी ज्ञानसे युक्त गुरुके पास जायेंगे और उनसे ज्ञानका प्रकाश प्राप्त करेंगे। इस उदय की दिशाका (अ-सितः) बंधनोंसे दूर रहनेवाला, स्वतंत्रताके विचार धारण करनेवालाही रक्षक है। ज्ञानीके साथ रहकर ज्ञानकी प्राप्ति और स्वातंत्र्यके संरक्षकके साथ रहनेसे स्वातंत्र्यकी प्राप्ति होती है। स्वतंत्रताके विना उन्नति नहीं होगी इसलिये स्वातंत्र्यका संरक्षण करना आवश्यक है। इस संरक्षणके शस्त्रास्त्र (आदित्याः) प्रकाशके किरण हैं। प्रकाशके साथही स्वातंत्र्य रहता है। विशेषतः ज्ञानके प्रकाशसे स्वातंत्र्यका संवर्धन होना है। प्रकाश जिस प्रकार अज्ञानका निवारण करता है ठीक उसीप्रकार ज्ञानका सूर्य अज्ञानके आवरक अंधकारमय प्रतिबंधोंको दूर करता है। अभ्युदय प्राप्त करनेके लिये स्वसंरक्षण होनेकी आवश्यकता है और प्रतिबंधोंको दूर करनेसेही स्वसंरक्षणकी शक्ति अपनेमें बढती है। तेजस्विता, ज्ञान, वक्तृत्व, आत्मसंमान आदि आग्नेय गुणोंके आधिपत्यसेही अभ्युदय होता है, इसीलिये तेजस्वी अधिपतियों, स्वतंत्रताके संरक्षकों और प्रतिबंधनिवारक प्रकाशमय शक्तियोंकाही हम आदर करते हैं। इसके विपरीत गुणोंका हम कभी आदर नहीं करेंगे। जो अकेला दुष्ट मनुष्य सब आस्तिक धार्मिक भद्र पुरुषोंको कष्ट देता है, उनकी प्रगति और उन्नतिमें विघ्न करता है, तथा जिसके दुष्ट होनेमें सब सदाचारी भद्र पुरुषोंकी पूर्ण संमति है, अर्थात् जो सचमुच दुष्ट है, उसको भी दंड देना हम अपने हाथमें नही लेना चाहते; परंतु हे तेजस्वी स्वामियो और स्वतंत्रता देनेवाले संरक्षको! आपके न्यायके जबडेमें हम सब उसको रख देते हैं। जो दंड आपकी पूर्ण संमतिसे योग्य होगा आपही उसको दीजिए। समाजकी शांतिके लिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह सच्चे अपराधीकोभी दंड देनेका अधिकार अपने हाथमें न लेवे, परंतु उस अपराधीको अधिपतियों

और संरक्षकोंकी न्यायसभामें अर्पण करे तथा पूर्वोक्त प्रकारके अधिपति और संरक्षकोंकाही सदा आदर करे। अर्थात् सत्य और न्यायका विजय करनेके लिये सदा तत्पर रहे॥

अनुष्ठान—उपासक इस समय अपने सामाजिक और जातीय अवस्थाका विचार उक्त मंत्रके अनुसंधानसे करे, धर्मके अनुकूल अपना कर्तव्य सोचे और तदनुसार पुरुषार्थ करनेके लिये अपने मनकी तैयारी करे। सद्गुणोंका आदर और दुष्ट गुणोंका निरादर करनेका मानसिक धैर्य अपने अंदर बढावे। सज्जनोंका सत्कार करने और दुर्जनोंका निराकरण करनेका उत्साह मनमें बढावे। इस प्रकार आत्मयज्ञकी तैयारी करे। तथा अघमर्षणतक जो अपनी उन्नति संपादन की है उसका समर्पण इस जनतात्माकी उन्नतिके अर्थ करनेका दृढ संकल्प करे।

ओँ दक्षिणा दिगिंद्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु॥ यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जंभे दध्मः॥ २॥

अर्थ—(दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशाका (इंद्रः अधिपतिः) शत्रु निवारक शूर स्वामी, (तिरश्चि-राजी रक्षिता) मर्यादाका अतिक्रमण न करनेवाला संरक्षक और (पितरः इषवः) पितृशक्तियां अर्थात् प्रजननकी शक्तियां शस्त्र हैं। हम सब उन शत्रुनिवारक शूर अधिपतियोंका, अपनी मर्यादाका कभी अतिक्रमण न करनेवाले संरक्षकोंका तथा सुप्रजानिर्माणके लिये समर्थ पितृशक्तियोंका ही आदर करते हैं। जो हम सब आस्तिकोंका विरोध करता है और जिसका हम सब आस्तिक विरोध करते हैं, उसको हम सब आप स्वामी और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं॥

मानसिक ध्यान—दक्षिण दिशा दाक्षिण्यका मार्ग बता रही है। दक्षता, चातुर्य, कौशल्य, कर्मकी प्रवीणता, शौर्य, धैर्य, वीर्य आदि शुभ

गुणोंकी सूचक यह दिशा है, इसीलिये सीधा अंग दक्षिणांग कहलाता है, और सीधा मार्ग अथवा दक्षिण मार्ग इसी दक्षिण दिशासे बताया जाता है। अर्थात् दक्षिण दिशासे सीधेपनके मार्गकी सूचना मिलती है। शत्रुका निवारण करने, अपने नियमोंकी मर्यादाका उल्लंघन न करने और उत्तम प्रजा निर्माण करनेकी शक्ति धारण करनेवाले क्रमशः इस मार्गके अधिपति, संरक्षक और सहायक हैं। इन्हींका आदर और सन्मान करना योग्य है। अपनी उन्नतिका साधन करनेके लिये (इन्-द्र) शत्रुओंका विदारण करनेकी आवश्यकता होती है। शत्रुका पराजय करनेपरही अपना मार्ग निष्कंटक हो सकता है। शत्रुओंके साथ युद्ध करनेसे अपना बल बढता है और शत्रुदमन करनेके पुरुषार्थसे अपनेमें उत्साह स्थिर रहता है। इस लिये मेरे तथा समाजके शत्रुओंका शमन करनेके उपायका अवलंबन करना मेरेलिये आवश्यक है। समाजकी शांतिके लिये अपनी मर्यादाका उल्लंघन न करनेवाले संरक्षकोंकी आवश्यकता है। कोई संरक्षक अपनी मर्यादा उल्लंघन करके अत्याचार न करे। मैंभी कभी अपने नियमोंका और मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करूंगा। समाजकी सुस्थितिके लिये उत्तम पितृशक्ति अर्थात् सुप्रजा निर्माण करनेकी शक्तिकी अत्यंत आवश्यकता है। सुप्रजानिर्माणसे समाज अमर रह सकता है। इस लिये हरएक पुरुषको अपने अंदर उत्तम पुरुषत्व तथा हरएक स्त्रीको अपने अंदर उत्तम स्त्रीत्व विकसित करना चाहिए। तात्पर्य उक्त प्रकारके शत्रुनिवारक अधिपति, नियमानुकूल व्यवहार करनेवाले संरक्षक और उत्तम पितर जहां होते हैं वहांही दाक्षिण्यका व्यवहार होता है। इसी प्रकारकी व्यवस्था स्थिर करनेका यत्न मैं अवश्य करूंगा। जो सबको हानि पहुंचाता है और जिसको सब समाज बुरा कहता है उसको उक्त अधिकारी, संरक्षक और पितरोंके न्यायालयमें हम सब पहुंचाते हैं। वेही उसके दोषका यथायोग्य विचार करें। हरएक मनुष्यको उचित है कि वह सीधे मार्गसे चले और समाजकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नतिका उत्तम प्रकारसे साधन करे।

अनुष्ठान—उपासकको उचित है कि वह उक्त मंत्रकी कसौटीसे अपनी तथा अपने समाजकी परीक्षा करे और अपने अधिपति, रक्षक और

पितरोंकी वास्तविक अवस्थाको सोचे । तथा अपने अंदर शत्रुका दमन करनेका सामर्थ्य, नियमानुकूल सब व्यवहार चलानेका अभ्यास तथा सुप्रजाजननकी उत्तम शक्ति स्थिर करनेका यत्न करे । अपना और समाजका नित्य संबंध जानकर अपने आपको समाजका एक अवयव समझ कर, समाजकी उन्नतिके लिये अपनी इतिकर्तव्यता करनेका पूर्ण निश्चय करे । इस मंत्रकी दृष्टिसे जो जहां दोष होंगे वहांसे उन दोषोंको निकालनेका पुरुषार्थ करना हरएकका कर्तव्य है ।

ॐ प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षिता-
ऽन्नमिषवः ॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो
रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ॥
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जंभे दध्मः ॥ ३ ॥

अर्थ—(प्रतीची दिक्) पश्चिम दिशा का (वरुणः अधिपतिः) वर अर्थात् श्रेष्ठ अधिपति, (पृत्–आ–कुः रक्षिता) स्पर्धामें उत्साह धारण करनेवाला संरक्षक और (अन्नं इषवः) अन्न इषु हैं । उन श्रेष्ठ अधिपतियोंके लिये, उन उत्साही संरक्षकोंके लिये तथा उस अभीष्ट अन्न के लिये हमारा आदर है । जो सबके साथ कलह करता है इस लिये सब भद्र पुरुष जिसको नहीं चाहते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं ।

मानसिक ध्यान—पश्चिम दिशा विश्रामकी दिशा है; क्योंकि सूर्य, चंद्र, आदि सब दिव्य ज्योतियां इसी पश्चिम दिशामें जाकर गुप्त होती हैं और जगत को अपना दैनिक कार्य समाप्त करनेके पश्चात् विश्राम लेनेकी सूचना देती हैं । पूर्व दिशाद्वारा प्रवृत्तिरूप पुरुषार्थकी सूचना होगई थी, अब पश्चिम दिशासे गुप्त स्थानमें प्रविष्ट होने, वहां विश्रांति और शांति प्राप्त करने, अर्थात् निवृत्तिरूप पुरुषार्थ साध्य करनेकी सूचना मिली है । श्रेष्ठ उत्साही महात्मा पुरुष इस मार्गके क्रमशः अधिपति और संरक्षक हैं । विश्राम और आरामका मुख्य साधन यहां अन्न है । श्रेष्ठ और उत्साही अधिपति और संरक्षकोंके लिये सबको सत्कार करना उचित है । तथा

अन्नकी ओर सन्मानकी दृष्टिसे देखना योग्य है। जो सबके मार्गोंमें विघ्न करता है इसलिये जिसको कोई पास करना नहीं चाहते उसको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभाके आधीन करना योग्य है। समाजके हितके लिये सबको उचित है कि वे न्यायानुसारही अपना सब बर्ताव करें और किसीको उपद्रव न दें।

अनुष्ठान—इस मंत्रके अनुसंधानसे अपने समाजकी और अपनी परीक्षा कीजिए और किस अवस्थापर अपनी स्थिति है इसका विचार कीजिए। अपने अन्नादिककी अवस्थाका सूक्ष्म निरीक्षण कीजिए तथा इसमें जो प्रतिबंधक शक्तियां कार्य कर रहीं होंगी उन सबका निराकरण करनेका उपाय सोच लीजिए। अपना और समाजका आराम, विश्राम और आध्यात्मिक आदर्श किस प्रकारका है, इस बातका विचार करके निश्चय कीजिए कि इस विषयमें अपना कर्तव्य क्या है और उसको किस प्रकार पूर्ण करना चाहिए? तथा जो उपाय सूझेगा और करने योग्य होगा उसको करनेका निश्चय कीजिए। क्योंकि जिस समाजका एक अवयव आप हैं उसकी न्यूनतामें आपकीही न्यूनता है, इस लिये उसको आदर्श समाज बनाना आपका अवश्य कर्तव्य है। उसकी पूर्णतामेंही आपकी पूर्णता है।

ॐ उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताऽशनि-
रिषवः॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो
नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु॥ यो३स्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मस्तं वो जंभे दध्मः॥ ४॥

अर्थ—(उदीची दिक्) उत्तर दिशाका (सोमः अधिपतिः) शांत अधिपति, (स्व-जः रक्षिता) स्वयं सिद्ध रक्षक और (अशनिः इषवः) विद्युत्तेज इषु हैं। उन शांत अधिपतियों, स्वयंसिद्ध संरक्षकों और तेजस्वी इषुओंके लिये हमारा नमन है। जो सबका द्वेष करता है और जिसका सब द्वेष करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं॥

मानसिक ध्यान—उत्तर दिशा उच्चतर अवस्थाकी सूचना देती है। हरएक मनुष्यको अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका प्रयत्न हर समय करना चाहिए। इस उच्चतर मार्गमें शांत स्वभावका आधिपत्य है, आलस्य छोड कर सदा सिद्ध और उद्यत रहनेके धर्मसे इस पथपर चलनेवालोंका संरक्षण होता है। व्यापक तेजस्वी स्वभावके द्वारा इस मार्गपरकी सब आपत्तियां दूर होती हैं। इस लिये मैं इन गुणोंका धारण करूंगा और समाजके साथ अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका पुरुषार्थ अवश्य करूंगा। शांत स्वभाव धारण करनेवाले अधिपति, सदा उद्यत और सिद्ध संरक्षकही सदा सन्मान करने योग्य हैं। साथही सर्वोपयोगी व्यापक तेजस्विताका आदर करना योग्य है। जो सबकी हानि करता है इसलिये जिसका सब सज्जन निरादर करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके सन्मुख खडा किया जावे। लोकही स्वयं उसको दंड न देवें। तथा अधिपति निष्पक्षपातकी दृष्टिसे उसको योग्य न्याय देवें। समाजकी उच्चतर अवस्था बनानेके लिये उक्त प्रकारके स्वभाव धारण करना अत्यंत आवश्यक है।

अनुष्ठान—अपनी और समाजकी अवस्था उच्चतर करनेका विचार इस मंत्रके अनुसंधानसे उपासकको करना चाहिए। उच्चतर अवस्था तुलनात्मक होनेसे हरएक समय अवस्थाका सुधार किया जा सकता है। उच्चतर अवस्था बननेके लिये जिन गुणोंका विकास करना उचित है, उन गुणोंका विकास करनेकी प्रतिज्ञा इस समय कीजिए।

ॐ ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता
वीरुध इषवः ॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो
रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ॥
यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जंभे दध्मः ॥५॥

अर्थ—(ध्रुवा दिक्) स्थिर दिशाका (विष्णुः अधिपतिः) उद्यमी अधिपति, (कल्माष-ग्रीवः रक्षिता) कर्म कर्ता संरक्षक और (वीरुधः इषवः) वनस्पतियां इषु हैं। इन सब अधिपतियों और रक्षकोंके लियेही हमारा आदर है इ० ॥

मानसिक ध्यान—ध्रुव दिशा स्थिरता, दृढता, आधार आदि शुभ गुणोंकी सूचक है। चंचलता दूर करने और स्थिरता प्राप्त करनेके लियेही सब धर्मके नियम हैं। उद्यमी और पुरुषार्थी पुरुष यहां अधिपति और संरक्षक हैं। क्योंकि कर्मसेही जगत्की स्थिति है, इसलिये कर्मके विना किसीकी स्थिरता और दृढता हो नहीं सकती। यही कारण है कि इस दृढताके मार्गके उद्यमी और पुरुषार्थी संचालक हैं। यहां औषधि वनस्पतियां दोष निवारणद्वारा सहाय्य करती हैं। जो जो दोषोंको दूर करनेवाले हैं वे सब इस मार्गके सहायक हैं। उद्यमी और पुरुषार्थी अधिपति और संरक्षकोंका सन्मान सबको करना चाहिए। इ० ॥

अनुष्ठान—अपनी और समाजकी स्थिरता और दृढता करनेका विचार यहां इस मंत्रके अनुसंधानसे कीजिए और जो जो उपाय सूझेंगे उनको करनेका अवश्य यत्न कीजिए। क्योंकि चंचलतासे इस जगत्में कोई कार्य बन नहीं सकता, जो कुछ उन्नति साध्य होती है, वह स्थिरतासे और दृढतासे प्रयत्न करनेपरही होती है।

ॐ ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता
वर्षमिषवः ॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो
रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ॥
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जंभे दध्मः ॥ ६ ॥

अ. ३।२७।६

अर्थ—(ऊर्ध्वा दिक्) ऊर्ध्व दिशाका (बृहस्पतिः अधिपतिः) आत्मज्ञानी स्वामी है, (श्वित्रः रक्षिता) पवित्र संरक्षक है और (वर्षं इषवः) अमृत जल इषु हैं। आत्मज्ञानी स्वामियोंका तथा पवित्र संरक्षकोंकाही सबको सन्मान करना योग्य है। शुद्ध अमृत जलकाही सबको आदर करना चाहिए। इ० ॥

मानसिक ध्यान—ऊर्ध्व दिशा आत्मिक उच्चताका मार्ग सूचित करती है। सच्चा आत्मज्ञानी आप्त पुरुषही इस मार्गका अधिपति और मार्गदर्शक है। जो अंतर्बाह्य पवित्र होगा वहही यहां संरक्षक हो सकता है।

आत्माके अनुभव और पवित्रत्वका यहां स्वामित्व है । आत्मिक उच्चताके मार्गका अवलंबन करनेके समय आत्मज्ञानी आप्त पुरुषके आधिपत्यमें तथा पवित्र सदाचारी सत्पुरुषके संरक्षणमें रहते हुएही इस मार्गका आक्रमण करनेसे इष्ट सिद्धियोंकी वृष्टि होती है । आत्मिक अमृत जलका रसास्वाद लेनेका यही योगमार्ग है । मैं इस मार्गका आक्रमण अवश्यही करूंगा और दूसरोंका मार्गभी यथाशक्ति सुगम करूंगा । मैं सदाही उक्त प्रकारके आत्मज्ञानी और शुद्ध सदाचारी सत्पुरुषोंका सन्मान करूंगा । इ० ॥

अनुष्ठान—आत्मिक उच्चताकी प्राप्तिके मार्गका इस मंत्रके अनुसंधानसे विचार यहां करना चाहिए । तथा अपना व्यवहार उस दृष्टिसे करनेका यहां निश्चय करना चाहिए । व्यक्तिकी और समाजकी सच्ची उन्नति इस दृष्टिके साथ प्रयत्न करनेसेही होती है । इसलिये पूर्व लेखानुसार इस मंत्रके अनुष्ठानमेंभी अपनी यथायोग्य आत्मिक उन्नति करनेका पूर्ण दृढ निश्चय करना योग्य है ।

इस "मनसा परिक्रमा" के छः मंत्रोंमें मानवी उन्नतिके छः केंद्र छः दिशाओंके द्वारा सूचित किये हैं । (१) प्राची, (२) दक्षिणा, (३) प्रतीची, (४) उदीची, (५) ध्रुवा और (६) ऊर्ध्वा ये छः दिशाएं क्रमशः (१) प्रगति, (२)दक्षता, (३) विश्राम, (४) उच्चता, (५) स्थिरता, और (६) आत्मिक उन्नतिके भाव बता रहीं हैं, ऐसा जो उक्त छः मंत्रोंद्वारा सूचित किया है, विशेष विचार करने योग्य है । उपासक इन दिशाओंमें होनेवाली नैसर्गिक घटनाओंको विचारकी दृष्टिसे देखें । इस सृष्टिके विविध घटनाओंके द्वारा सर्वव्यापक परमात्मा प्रत्यक्ष उपदेश दे रहा है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करके उपासकोंको सृष्टिकी ओर देखना आवश्यक है । जड भावको छोडकर परमात्माके चैतन्यसे यह सृष्टि ओतप्रोत व्याप्त है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करनी चाहिए । क्योंकि "यह पूर्णसृष्टि उस पूर्ण परमेश्वरके द्वाराही उदयको प्राप्त होती है । और उस पूर्ण ईश्वरकी शक्तिही इस सृष्टिद्वारा दिखाई दे रही है ।" इस प्रकार विचार स्थिर करके यदि उपासक उक्त प्रकार छः दिशाओंद्वारा अपनी उन्नतिके छः

केंद्रोंके संबंधमें उपदेश लेंगे तो व्यक्ति और समाजकी उन्नतिके स्थिर और निश्चित मार्गोंका ज्ञान उनको हो सकता है।

(९) उपस्थानम्।

(ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः। देवता—सूर्यः)

ॐ उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यंत उत्तरम्॥
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

यजु. ३५।१४

अर्थ—(वयं) हम सब (उत्) उत्कृष्ट (तमसः) प्रकृतिसे (परि) परे (उत्तरं) अधिक उत्कृष्ट (स्वः) स्वकीय जीवात्माका (पश्यंतः) अनुभव करते हुए, (उत्तमं) सबमें उत्कृष्ट (ज्योतिः) परमात्मतेजको (अगन्म) प्राप्त करते हैं, जो (देव–त्रा देवं) सब दिव्य पदार्थोंका प्रकाशक और (सूर्यं) स्वयंप्रकाशी अथवा सबका प्रेरक देव है।

मानसिक ध्यान—(१) प्रकृति और उसका बना हुआ प्राकृतिक जगत् उत्कृष्ट है, क्यों कि वह जीवोंकी उन्नतिका उत्कृष्ट साधन है। पूर्ण परमेश्वरके निमित्तसे इस सृष्टिकी उत्पत्ति होनेसे यह सृष्टिभी पूर्ण ही है। (२) इस साधनरूप जगत्‌की अपेक्षा साधक अर्थात् साधनका उपयोग करके सिद्धिको प्राप्त होनेवाला जीवात्मा अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि यह जीव उक्त साधनका उपयोग करके अपनी उन्नति अपने पुरुषार्थसे प्राप्त कर सकता है। (३) उक्त दोनोंसेभी अधिक श्रेष्ठ सर्वोत्तम परात्पर पुरुष अथवा पुरुषोत्तम है, क्योंकि वह स्वयं सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, स्वयंभु, और सर्वप्रकाशक है। यह सर्वोत्तम होनेसे उपास्य है और जीव इसके उपासक हैं। हम सब जीव प्रथमतः प्रकृतिसे बनेहुए इस दृश्य और स्थूल जगत्‌का अनुभव करते हैं। तदनंतर इसकी सूक्ष्म शक्तियोंको जानने लगते हैं। पश्चात् हम अपने अंतरात्माका अनुभव प्राप्त करते हैं और इस अनुभवके पश्चात् हम परमात्माका साक्षात्कार करते हैं। क्यों कि वह परमात्मा सबसे परे, सबसे सूक्ष्म, और सबसे श्रेष्ठ है। इसलिये जगत् और जीवके ज्ञानके पश्चात् उसका ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

अनुष्ठान—प्रथमतः सब सृष्टिको पवित्र और शुभ समझ लीजिए। इस जगत्‌को बंधनरूप न मानिए। क्यों कि परम मंगलमय परमेश्वरकी जो यह सृष्टिरूप कृति है वह अमंगल नहीं हो सकती। परमात्माकी व्यापक बुद्धि इस जगत्‌के रूपमें फैली है, ऐसी दृष्टि सदा धारण कीजिए। इस साधनरूप पवित्र जगत्‌का साधक मैं जीवात्मा इस शरीरसे भिन्न और स्वतंत्र हूं, मैं इस साधनका उपयोग करके सिद्धिको प्राप्त करूंगा और विघ्नोंसे कभी निरुत्साहित नहीं होऊंगा, ऐसी भावना मनमें स्थिर कीजिए। और सर्व सामर्थ्योंसे युक्त परमात्माका चिंतन कीजिए जिससे अपने अंदर सब प्रकारकी शक्ति बढने लगेगी। इस समय किसी प्रकारका अपवित्र विचार मनमें न रखिए।

ॐ उदु त्यं जातवेदसं देवं वहंति केतवः ॥
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥

ऋ. १।५०।१; यजु ३३।३१

अर्थ—(केतवः) ज्ञानी धुरीण लोक (विश्वाय दृशे) सब को ज्ञान देनेके लिये (त्यं जात-वेदसं) उस जने हुए जगत्‌को यथावत् जाननेवाले (देवं सूर्यं) दिव्य प्रेरक ईश्वरका (उत् वहंति) अनुभव करते हैं अथवा उसके साथ संयुक्त होते हैं।

मानसिक ध्यान—ज्ञानी लोकही परमात्माके स्वरूपका अनुभव करते हैं। जो स्वयं अनुभव करते हैं वेही उस दिव्य अनुभवका ज्ञान दूसरोंको दे सकते हैं। परमात्मा स्वयं सर्वज्ञ, दिव्य, सबका प्रेरक और सबसे श्रेष्ठ हैं। वही एक सबका उपास्य आत्मा है। उसका ज्ञानी आप्त पुरुषोंसे ही बोध हो सकता है। इस लिये मैं ज्ञानी गुरुजनोंके पास जाकर परमात्माका साक्षात्कार करनेका उपाय जान लूंगा और श्रद्धाभक्तिसे ध्यानधारणादिद्वारा उसका साक्षात्कार करूंगा। जो जो उनके साधनके उपाय हैं, उनको पास करूंगा और जो जो बाधा डालनेवाले होंगे उनको मैं दूर करूंगा। इस प्रकार करनेसे मुझे शीघ्रही परमात्मस्वरूपका ज्ञान होगा। वह बडा ही आनंद और सौभाग्यका समय होगा कि जिस समय मुझे आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होगा। हे परमात्मन्! मेरे अंतःकरणमें ऐसी

भक्ति उत्पन्न करो कि जिससे मैं कुतर्कोंसे दूर होकर तेरे स्वरूप का अनुभव शीघ्रही प्राप्त कर सकूं । जिस प्रकार झंडियां उत्सव स्थानकी सूचना यात्रियोंको दूरसे ही देतीं हैं, ठीक उसी प्रकार ज्ञानी लोकभी स्वयं झंडे बनकर सब उपासकोंको उस दिव्य आत्माकी सूचना देते रहते हैं । परमात्माके दिव्य स्वरूपका प्रकाश इन आप्त पुरुषोंके अंतःकरणोंसे होता है । हे आनंद स्वरूप परमात्मन् ! इस प्रकारका मेरा शुद्ध अंतःकरण बनाओ कि जिसमें तेरी दिव्य ज्योतिका प्रकाश हमेशा तेजस्वी ही होता रहेगा ।

अनुष्ठान—जो आपका आप्त पुरुष अथवा गुरु होगा, जिससे अथवा जिसके द्वारा आपको आत्मिक ज्ञानका लाभ हुआ है, उसका स्मरण करके, अथवा अपने पूज्य आचार्यका स्मरण करतेहुए उनके लगाये झंडेसे दिव्य परमात्माके तेजकी प्राप्ति मुझे हुई है, ऐसा मानकर, शुद्ध दिव्य ज्ञानस्वरूप पवित्र मंगलमय परमात्माके शुभ गुणोंका चिंतन कीजिए । उन शुभ गुणोंसे अपने मनको ऐसा पूर्ण भर दीजिए कि जिससे भराहुआ अपना मन इधर उधर न भटक सके । जहांतक हो सके वहांतक चित्तकी एकाग्रता संपादन कीजिए और क्षुद्र विचारोंसे अपना मन कलंकित न कीजिए ।

(ऋषिः—कुत्स आंगिरसः ॥ देवता—सूर्यः)

ओँ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ॥
आप्रा द्यावापृथिवी अंतरिक्षँ सूर्य आत्मा जगत-
स्तस्थुषश्च ॥ स्वाहा ॥

ऋ. १।११५।१; यजु. ७।४२

अर्थ—जो (देवानां) सब देवताओंमें (चित्रं) विलक्षण और (अनीकं) बलवान् है, (मित्रस्य) सूर्य (वरुणस्य) वरुण और अग्नि आदिकोंको भी जो (चक्षुः) प्रकाश देता है, (द्यावा-पृथिवी) द्युलोक, पृथिवी और (अंतरिक्षं) अंतरिक्ष लोकमें भी जो (आ-अप्रा) व्यापक है, तथा (तस्थुषः च) स्थावर और (जगतः) जंगम का भी जो (आत्मा) अंतरात्मा है, वह (सूर्यः) सकल जगत् का उत्पादक परमात्मा मेरे

अंतःकरणमें (उत्–अगात्) प्रकाशित होवे । (स्व–आ–हा) मैं पूर्ण त्याग करता हूं ।

मानसिक ध्यान—परमात्मा सबसे विलक्षण और अद्भुत सामर्थ्य-शाली है, वह सूर्यादिकोंको प्रकाश देता है, संपूर्ण जगत् में पूर्णतया व्यापक है, और स्थावर जंगम सब जगत् का अंतरात्मा वही है । मैं उसी एक ईश्वरकी स्तुति प्रार्थना और उपासना करता हूं । मेरी इतनी ही प्रबल इच्छा है कि वह मेरे हृदयमें प्रकाशित होवे, ताकि उसके साक्षात्कारसे मैं पवित्र और कृतकार्य बनूं । साथही मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि स्वार्थपरायणता का त्याग करता हुआ मैं परोपकारका जीवन व्यतीत करूंगा । क्योंकि मैं समझता हूं कि परमात्मसेवाका यही शुद्ध मार्ग है ।

अनुष्ठान—इस समय उपासकको अपने मनमें यह विचार स्थिर करना चाहिए कि, सब पदार्थ मात्रमें परमात्मा पूर्णतया भरा है और सब पदार्थ परमात्मा में हैं । मैं परमात्मा में हूं और मेरे अंदर परमात्मा है । मैं और परमात्मा दोनों ऐसे एकत्र मिले हैं कि उनमें कोई अंतर नहीं है । जिस प्रकार अग्निमें लोहा रखाहुआ तपकर अग्निरूप बन जाता है, उसी प्रकार परमात्माके अंदर में रहनेसे उसके तेजसे तेजस्वी होनेके कारण मैं भी उस दिव्य तेजके द्वारा अंदरबाहिरसे तेजस्वी हो रहा हूं और होगया हूं । अब मैं शुद्ध, पवित्र, निर्मल और तेजस्वी हूं । मैं बंधन रहित हूं । मैं केवल आत्मा हूं । और मेरे आत्मामें वह जगदात्मा प्रकाशमान हो रहा है ॥

इस प्रकार स्थिर चित्तसे जितनी देर होसके उतनी देर ध्यान कीजिए और जो अनुभव आवेगा, उसको दूसरी संध्याके समयतक स्मरण रखिए।

(ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः । देवता—सूर्यः)

ओ३म् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ
शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शत-
मदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

यजु. ३६।२४

अर्थ—(तत्) वह (देव–हितं) देवोंके लिये हितकारक (शुक्रं) पवित्र (चक्षुः) ज्ञानतेज (पुरस्तात्) मेरे सन्मुख (उत् चरत्) उदित होगया है। उस तेजमें रहते हुए हम सब (शरदः शतं पश्येम) सौ वर्ष देखें, (शरदः शतं जीवेम) सौ वर्ष जीते रहें, (शरदः शतं शृणुयाम) सौ वर्ष सुनें, (शरदः शतं प्रब्रवाम) सौ वर्ष प्रवचन करें, (शरदः शतं अदीनाः स्याम) सौ वर्ष दीन न बनते हुए रहें, (शरदः शतात् भूयः) सौ वर्षसेभी अधिक आयु प्राप्त करके आनंदके साथ रहें ॥

मानसिक ध्यान—परमात्मा सबका हितकारी है। और उसका उदय सदा से ही हो गया है, क्यों कि उसका अस्त कभी होही नहीं सकता। हमारी शुद्धता और पवित्रतासे उसका जब साक्षात्कार हमें होता है, तब कहा जाता है, कि उसका उदय हमारे अंतःकरणमें अथवा हमारे अंतरात्माके सन्मुख हो गया है। इस लिये मैं सब प्रकारसे पवित्र बनकर उसका दर्शन करूंगा। उसके कृपाछत्र की छायामें आकर, निर्भय बनकर, सौ वर्षकी आयु अथवा उससेभी अधिक दीर्घ आयु प्राप्त करूंगा, और पूर्ण दीर्घ आयुकी समाप्तितक, दीन न बनता हुआ, पुरुषार्थके साधक अपने सब इंद्रियों और अवयवोंकी शक्ति बढाता हुआ, और उनको नीरोग, निर्दोष, पवित्र और शुद्ध बनाता हुआ, आनंदसे परमात्माके गुणोंका कीर्तन करूंगा, और उसीकी भक्ति और उपासना करूंगा।

अनुष्ठान—अंगस्पर्श, इंद्रियस्पर्श और मार्जनके मंत्रोंद्वारा जिन जिन अंगों और अवयवोंकी नीरोगता, स्वस्थता, सबलता और पवित्रता संपादन करनेका यत्न हुआ है, उन सब अंगों और इंद्रियोंको सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक अथवा उससेभी अधिक दीर्घ आयुकी समाप्तितक, पूर्णबलवान् और कार्यक्षम रखनेकी सूचना इस मंत्रद्वारा मिली है। इसलिये मनमें ऐसी दृढ भावना इस समय धारण करना चाहिए कि मैं योग साधनादि द्वारा उत्तम नियमोंका पालन करके सौ वर्ष की अधिक दीर्घ आयु अवश्य प्राप्त करूंगा। मैं अपना आचरण और चालचलन ऐसा रखूंगा कि जिससे मैं अपनी दीर्घ आयुकी समाप्तितक दीन, दुर्बल अथवा पराधीन कभी नहीं बनूंगा। सदा ही मैं उत्साही, बलवान, स्वाधीन, और स्वतंत्र रहूंगा।

मेरे आंखोंमें उत्तम दृष्टि रहेगी, मेरे कानोंमें उत्तम श्रवणशक्ति निवास करेगी, मेरे मुखमें उत्तम वक्तृत्वशक्ति स्थिर रहेगी, तथा अन्य अंगों, अवयवों और इंद्रियोंमें अपनी निजशक्ति उत्तम प्रकारसे स्थिर रहेगी। आयु बढनेसे मेरी शक्ति कभी क्षीण नहीं होगी। मैं ऐसा ही सुनियमोंके अनुकूल आचरण करूंगा कि जिससे मेरी शक्ति कभी क्षीण नहीं होगी। मैं धर्मानुकूल आचरण करके स्थूल शरीरकी नीरोगता, मनमें सुविचार और आत्मामें दिव्य शांति स्थिर करूंगा॥

इस प्रकारके विचार इस समय मनमें धारण कीजिए और दृढ विश्वास-पूर्वक समझ लीजिए कि पूर्ण आयुकी समाप्तिके पूर्व अपनी मृत्यु नहीं होगी। जैसी भावना उपासक अपने मनमें रखेंगे वैसी ही उनको सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसी लिये वेदमंत्रों में कहे हुए भाव सदा मनमें स्थिर करना चाहिए। और कभी कुसंस्कारोंको अपने मनमें आनेभी नहीं देना चाहिए। आपकी आज्ञाके विना आपके शरीर, मन और आत्मामें कोई अदल बदल नहीं हो सकता। दुष्ट भावना मनमें होनेके कारण ही सब कष्ट होते हैं इसलिये सदा शुभ भावनाओंकी मनमें धारणा करना चाहिए।

(१०) गुरुमंत्रः।

(ऋषिः—विश्वामित्रः। देवता—सविता)

ॐ भूर्भुवः स्वः॥ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि॥ धियो यो नः प्रचोदयात्॥

ऋ. ३।६२।१०; य. ३६।३

अर्थ—(ॐ) उत्पत्ति स्थिति प्रलय कर्ता (भूः) सत् (भुवः) चित् और (स्वः) आनंदस्वरूप (सवितुः) जगदुत्पादक (देवस्य) ईश्वरके (तत् वरेण्यं भर्गः) उस श्रेष्ठ तेजका हम सब (धीमहि) ध्यान करते हैं, इसलिये कि (यः) वह (नः धियः) हम सबकी बुद्धियोंको (प्रचो-दयात्) विशेष प्रेरणा करे।

मानसिक ध्यान—परमेश्वर सब जगत्की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करता है, वह सच्चिदानंदस्वरूप और सबको प्रेरणा करनेवाला है। उसके श्रेष्ठ तेजका हम सब इस लिये ध्यान करते हैं कि ध्यान करनेसे वह हम सबोंकी बुद्धियोंको उत्तम प्रेरणा करके उत्तम और श्रेष्ठ बनाता है। हे ईश्वर! हे परमात्मन्! हे अंतर्यामिन्! कृपा करो, दया करो और इस भक्तको पवित्र और शुद्ध बनाओ!

अनुष्ठान—इस मंत्रका उच्चारण करनेके समय परमेश्वरके पवित्र तेजकी और शक्तिकी कल्पना करनी चाहिए। जो अपनी परमेश्वर विषयक उच्चसे उच्च कल्पना होगी अर्थात् वेदमंत्रोंमें कहे ईश्वरके स्वरूपके वर्णनसे जो कल्पना मनमें होगई होगी, उसको इस समय मनमें और बुद्धिमें स्थिर करनेका यत्न करना चाहिए। मेरी बुद्धिको वह परमात्मा उच्च प्रेरणा कर रहा है, उसके श्रेष्ठ तेजसे मैं तेजस्वी हो रहा हूं, उसकी सत्तासे मेरी सत्ता मिली है, उसके ज्ञानसे मैं संयुक्त हो रहा हूं, उसका आनंद मेरे अंदर आरहा है, उसके ऐश्वर्यसे मैं सुशोभित हो रहा हूं, उसकी दिव्यशक्तियोंसे मैं दिव्य बन रहा हूं; ऐसी भावना मनमें धारण कीजिए और सर्वव्यापक परमात्मामें अपने आपको संमिलित समझ लीजिए। अपने चंचल मनको स्थिर और शांत कीजिए और इस मंत्रके सुविचार के अतिरिक्त कोई दूसरा विचार ही मनमें न आने दें॥ इस प्रकार स्थिरतासे मनकी शुभ भावना रखिए और इस मंत्रका जप कीजिए। तीन, दस, अठाईस, एकसौ आठ अथवा जितना आप करना चाहते हैं उतना जप कीजिए। मंत्रोच्चार के साथ अर्थकी भावना मनमें स्थिर रखनेसे जप होता है और चित्तकी एकाग्रता होती है। जपके समय मंत्रोच्चार करने के विविध प्रकार हैं, जो अपने योग्य प्रकार आप समझते हैं, उस प्रकारके अनुकूल आप जप कीजिए। किसी प्रकारमें मंत्रका उच्चार गडबडके साथ अर्थात् जलदीसे नहीं करना चाहिए, परंतु शनैःशनैः करना चाहिए, तथा मंत्रका रस अपने मनमें भरनेका यत्न करना चाहिए। तभी जपका फल मिलता है। (१) मंत्रोच्चार खुली आवाज से करना, जो साथ बैठे दस पांच मनुष्योंको सुनाई देवे। यह प्रकार अत्यंत साधारण है। (२) मंत्रोच्चार

इतने छोटे स्वरमें करना कि केवल अपने कान ही उसको सुन सकें । पूर्व प्रकारसे यह श्रेष्ठ है । (३) शब्दोंका उच्चार न करतेहुये होंट हिलाकर मंत्र चुपचाप बोलना, इस समय शब्दका इतना सूक्ष्म उच्चारण होता है कि वास्तविक शब्दका श्रवण अपने कानसेभी नहीं होता, परंतु मंत्रश्रवणका भास अवश्य होता है । (४) मुख बिलकुल बंद करके, शब्दका बाहिर उच्चार न करते हुए, अंदर जिव्हाको थोडा थोडा हिलाकर, जोरसे मंत्र बोलनेका प्रयत्न, शब्दोंका व्यक्त उच्चार न करते हुए, करना । शब्दका बाहिर उच्चार न होनेपर भी श्रवणका भास होता है । (५) पूर्वोक्त प्रकार ही, परंतु जोरसे मंत्र बोलनेका प्रयत्न न करते हुए, शब्दोंका अंदरही उच्चार करनेका प्रयत्न करना । इसमें भी शब्दश्रवण का भास होता है । (६) मुख बंद करके और जिव्हाको न हिलाते हुए और उच्चार न करते हुए मंत्रका जप करनेका प्रयत्न करना । इस जपमें भी मंत्रश्रवणका भास होता है ।

पूर्वोक्त प्रकारमें पहिलेसे दूसरा और उससे क्रमशः आगेका प्रकार श्रेष्ठ है । यदि उपासक चाहें तो प्रत्येक अक्षरोच्चारके समय उस अक्षरको कल्पनासेही अपने सन्मुख देखनेका अभ्यास करें, इससे चित्त एकाग्र होनेमें सहायता हो सकती है । श्वासके साथ एक वार मंत्रोच्चार और उच्छ्वासके साथ एक वार मंत्रोच्चार करके जप करनेका एक श्रेष्ठ और उत्तम प्रकार है, परंतु प्राणायामका अच्छा अभ्यास होनेके पश्चात् ही यह प्रकार साध्य होता है । प्राणायाम का अभ्यास होनेसे पूर्व इस जपको करना योग्य नहीं है । उक्त प्रकारमें एक मंत्रसे कुंभक करनेकाभी और एक विधि है । इसको समंत्रक प्राणजप कहते हैं । प्राणायामका वर्ष दो वर्ष अच्छा अभ्यास होनेके पश्चात् इन दोनों प्रकारोंको किया जा सकता है, उससे पूर्व नहीं ॥ अस्तु । जप करनेके समय चित्तको जपमें ही सर्वथा लगाना चाहिए । यदि चित्त इधर उधर जाने लगेगा तो उसको पुनःपुनः वापस लाना चाहिए । इस प्रकार करनेसे एकाग्रता सिद्ध होती है ।

(११) नमनम् ।

(ऋषिः—कुत्सः । देवता—रुद्रः)

ॐ नमः शंभवाय च मयोभवाय च ॥
नमः शंकराय च मयस्कराय च ॥
नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

यजु. १६।४१

अर्थ—(शं-भवाय नमः) शांति देनेवाले ईश्वर के लिये मेरा नमस्कार है । (मयो-भवाय नमः) सुखदायक परमात्मा के लिये मेरा नमन है । (शं-कराय नमः) शांति करनेवाले ईश्वर के लिये मेरा नमस्कार है । (मयः-कराय नमः) सुखी करनेवाले ईश्वर के लिये मेरा नमन है । (शिवाय) कल्याणस्वरूप ईश्वर के लिये तथा (शिव-तराय नमः) अत्यंत मंगलमय परमात्माके लिये मेरा नमस्कार है ॥

मानसिक ध्यान—परमेश्वर शांति और सुख देनेवाला, सबको शांत और सुखी करनेवाला तथा स्वयं कल्याणस्वरूप और अत्यंत मंगलमय है । नम्रतायुक्त अंतःकरणसे मैं उसकी शरण जाता हूं और उसी एक अद्वितीय मंगलमय जगच्चालकको नमस्कार करताहूं । हे परमात्मन्? हे कृपालो? हे दयाघन सच्चिदानंद? तेरी भक्ति मेरे हृदयमें स्थिर कर? यही मेरी प्रार्थना और यही मेरी इच्छा है । पूर्ण करो, पूर्ण करो, पूर्ण करो ॥

अनुष्ठान—मनमें शांति और शुभ भावना धारण करके अत्यंत नम्रता के साथ परमेश्वरको नमन कीजिए ॥

॥ ओ ३ म् । शांतिः । शांतिः । शांतिः ॥

हे ईश्वर! तेरी कृपासे हरएक व्यक्तीको शांति प्राप्त होवे ।
हे ईश्वर! तेरी कृपासे संपूर्ण समाजको शांति प्राप्त होवे ।
हे ईश्वर! तेरी कृपासे संपूर्ण जगत्को शांति प्राप्त होवे ।

संध्योपासनाके मंत्रोंका विचार ।

(१) संध्याकी पूर्व तैयारी ।

प्रथम आचमन ।

प्रत्येक यज्ञकर्ममें आचमन और इंद्रियस्पर्श अत्यंत आवश्यक है। परंतु कई लोक इस प्राथमिक आचमनको संध्योपासनाके समय नहीं करते। और द्वितीयाचमनसे ही संध्याका प्रारंभ करते हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि जैसा इतर यज्ञकर्ममें इस प्राथमिक आचमनकी आवश्यकता है, उसी प्रकार संध्योपासनाके लिये भी आवश्यकता है। यह प्रथम आचमन और इंद्रियस्पर्श यज्ञकर्मकी तैयारीके लिये हैं।

आचमनका उद्देश और फल ।

दक्षिण हाथमें अंगुष्ठसे तर्जनीको अंदर दबा कर तथा अन्य अंगुलियोंको जोड कर हाथका सीधा चमससा बनाया जाता है। उस हाथके चमसमें थोडासा पानी लेकर उसको मुखद्वारा पीनेसे आचमन हुआ करता है। यह आचमन साधारण अवस्थामें कंठकी शुद्धि करता है। कंठमें कफ आदि मल होते हैं, उनको दूर करनेका काम आचमनका है। कंठ निर्मल होनेसे शब्दोंका उच्चारण ठीक होता है, तथा चित्त भी प्रसन्न होता है। आचमनके अनेक फल हैं परंतु उनमें निम्न लिखित फल स्वानुभवके हैं-(१) आचमन शरीरकी उष्णताको सम प्रमाणमें लाता है, (२) जठरकी प्रसन्नता होती है और क्षुधा प्रदीप्त होती है, (३) उच्च स्वरसे बोलना सुगम होता है, (४) कफविकार हटता है, (५) ज्वरसे बीमार होनेकी आवस्थामें अनेक वार आचमन करनेसे बहुत लाभ होते हैं, बहुतसे ज्वरके कष्ट शांत होते हैं, (६) पित्तविकारका शमन होता है, (७) शौचकी शुद्धि होती है, बद्धकोष्ठता दूर होती है। इसके अतिरिक्त आचमनसे अनेक लाभ हैं, परंतु सबका उल्लेख यहां नहीं किया जा सकता। इतना समझ लीजिए कि साधारण शुद्ध शीत जलका आच-

मन एक विलक्षण दवा है, जो कि अनेक रोगोंकी शांति करती है। रोगकी तीव्रताके अनुसार आचमन वारंवार करना होता है। अस्तु।

इतना महत्त्व आचमनका होनेके कारण सब धर्मके कर्मोंमें आचमन आवश्यक समझा गया है। देखिए शतपथमें कहा है—

तद् यदपः उपस्पृशति······तेन पूतिरन्तरतः।
पवित्रं वा आपः। शत. ब्रा. १।१।१।१

'जो जलका आचमन किया जाता है, उससे आंतरिक शुद्धि होती है, क्यों कि जल पवित्रता करनेवाला है।' पवित्रता जहां होती है वहां नीरोगता और आरोग्य अवश्यमेव होता है। आचमनसे पवित्रता होनेके कारण ही मनकी प्रसन्नता होती है, आलस्य दूर होता है, चित्तकी एकाग्रता होनेमें सहायता होती है, इंद्रियोंकी सुस्ति हट जाती है, शिरमें चक्कर आदि आते हों तो आचमनसे हट जाते हैं, क्रोध आदि विकारोंका शमन होता है, कामविकारका संयम होता है, इस प्रकार अनेक लाभ आचमनसे होते हैं। इस लिये योग्य रीतिसे आचमन करनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

सब धार्मिक कार्य मनकी एकाग्रता और प्रसन्नता के साथ करने चाहिएँ। यह नियम सब कार्योंके लिये समझ लीजिए।

आचमनके समय मनकी कल्पना।

आचमन के समय मनकी विशेष अवस्था रखनी चाहिए। इसी प्रकार हरएक संध्योपासनाके मंत्रके समय करना उचित है। मंत्रके आशयके मननसे चित्त की एकाग्रता करनेका अभ्यास करना चाहिए। यही ध्यानयोग है। जो ठीक प्रकारसे अभ्यास करेगा उसी को सिद्धि हो सकती है। दूसरों को किस प्रकार होगी? आचमन के पहिले दो मंत्र निम्न स्थानमें रखे हैं—

ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा।
ॐ अमृतापिधानमसि स्वाहा॥

'परमेश्वर अमृतका उपस्तरण और अपिधान है।' इतना इनका आशय है। इन मंत्रोंके उच्चारणके साथ उपासकको निम्न विचारकी धारण करना उचित है—

अमृत-अपिधानम् ।

अमृत-उपस्तरणम् ।

सोनेके समय नीचे एक चादर होती है उसका नाम उपस्तरण होता है, और ओढनेकी चादरका नाम अपिधान होता है । दोनों चादरोंके बीचमें सोनेवाला आराम प्राप्त करता है । उसी प्रकार परमेश्वरके बीचमें उपासकको आराम और आनंद प्राप्त हो सकता है । इस समय उपासक ऐसा विचार करे कि मेरे चारों ओर तथा अंदर भी परमात्मा व्यापक है । जिस प्रकार वायुके बीचमें घर होते हैं अथवा तालावके बीचमें तेर-नेवाला होता है, उस प्रकार परमात्माके बीचमें मैं हूं । परमेश्वरकी व्याप-कता इससे भी अधिक है । कुछ देरतक उपासक इसी प्रकार अपने आ-पको परमात्माके अंदर और परमात्माको अपने चारों ओर समझे । चित्तकी वृत्ति इसी विचारसे पूर्ण करे और दूसरी कोई बात इस समय न सोचे । केवल इस एक विचारसे भिन्न कोई अन्य विचार मनमें न रखे । थोडी देर इस प्रकार ध्यान करके पश्चात् तीसरा आचमन करे—

ॐ सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ।

'सत्य, यश, शोभा और संपत्ति मेरे आश्रयसे रहें ।' इस मंत्रके उच्चा-रणके पश्चात् इस अर्थका मनन थोडी देरतक करना चाहिए । सबसे प्रथम सत्यका आग्रह अर्थात् सत्यकी निष्ठा धारण करनी चाहिए । धर्मका इसीसे साधन होना है । तत्पश्चात् यश, शोभा और संपत्तिका विचार क्रमसे करना उचित है । आजकल संपत्तिका मान अधिक हो गया है और सत्यका कम हो गया है । इसी लिये सर्वत्र अधर्म और अनर्थ हो रहा है । यदि लोकोंमें सत्यकी प्रीति स्थापित की जाय, और लालच की गुलामी कम की जाय, तो सर्वत्र शांति स्थापित हो सकती है ।

यहां उपासकको उचित है कि सत्यका अवलंबन करनेवाले सदाचारी पुरुषके चरित्रका किंचिन्मात्र विचार करे और 'मैं अवश्य वैसा बननेका प्रयत्न करूंगा' ऐसी प्रतिज्ञा करे। इस प्रकार लालच छोडने और सत्यकी प्रीति अपने अंतःकरणमें बढानेका यत्न प्रतिदिन करनेसे मनुष्य सत्यनिष्ठ बन जाता है। यही इस प्रकारके ध्यानसे लाभ हो सकता है। अस्तु।

इस आचमनके साथ निम्न उपनिषद्का मंत्र देखने योग्य है—

अमृतमस्यमृतोपस्तरणमस्यमृतं प्राणे जुहोमि ॥
अपिधानमस्यमृतत्वायोपदधामि ॥ प्राणाग्नि. उ. २

'तू अमृत है, अमृतका आच्छादन है, तेरे अमृतको मैं अपने प्राणमें रखता हूं। तू अमृतका आवरण है, अमरपनके लिये तेरी धारणा करता हूं।' सत्यके विषयमें अथर्व वेदकी श्रुति देखिए—

स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत् ॥ अथर्व. ११।८।२०

'(स्तेयं) चोरी, दुराचार और कुटिलता ही पाप है। और सत्य ही बडा यज्ञ और महान् यश है।' तथा—

सत्याय च तपसे देवताभ्यो
निधिं शेवधिं परिदद्म एतम् ॥ अथर्व. १२।३।४६

'(एतं शेवधिं निधिं) यह बडा द्रव्यका निधि सत्य, तप और देवताओंके लिये (परिदद्मः) सब प्रकारसे अर्पण करते हैं'। इस मंत्रमें सत्यके पालनके लिये सब द्रव्यका अर्पण करनेका उपदेश है। यह हर समय ध्यानमें रखना चाहिए। तथा—

सत्यं चर्तं च चक्षुषी। अथर्व. ९।५।२१

'सत्य और ऋत ये दो सच्चे आंख हैं।' जो सत्यका पालन नहीं करता उसका आंख अंधा है। जो सत्यका पालन करता है वही ठीक देख सकता है। तथा—

सत्यं च मे श्रद्धा च मे। यजु. १८।५

'मेरा सत्य और मेरी श्रद्धा यज्ञमें समर्पित हो जावे' तथा—

सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रु-
रनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम् ॥ ऋ. ४।३३।६

'(नरः) नेता लोक (सत्यं) सत्य (ऊचुः) कहते हैं, और (एवा हि) कहनेके अनुसार ही (चक्रुः) करते हैं। इसलिये (एतां स्व-धां) इस स्वावलंबनके सत्यमार्गका (ऋभवः) ऋभु अर्थात् कारीगर (अनु-जग्मुः) अनुकरण करते हैं।' इसप्रकार सत्य, यश और धनके विषयमें वेदका उपदेश है। यह उपदेश सबको सर्वदा ध्यानमें रखने योग्य है। सत्य बोलना चाहिए और बोलनेके अनुसार करना चाहिए। यही सबसे सीधा मार्ग है।

अस्तु इस प्रकार मानसिक मनन होनेके पश्चात् अंगस्पर्श करना चाहिए। अब उपासकोंको यहां स्मरण रखना उचित है, कि संध्योपासनाका प्रारंभ करनेके पश्चात् समाप्ति तक किसी अन्य विचारको मनकी भूमिकामें नहीं लाना चाहिए। केवल क्रमपूर्वक संध्याके मंत्रोंका तथा तत्सदृश वेदमंत्रोंका ही विचार करना चाहिए, अर्थात् मनको संध्यारूप ही बनाना चाहिए।

अंगस्पर्श।

अंगस्पर्श खास खास अवयवोंको जलसे स्पर्श करना है। इसका उद्देश और फल हम आगे लिखेंगे परंतु यहां इस विधिका उद्देश ध्यानमें लानेके लिये निम्न मंत्रोंका प्रथम विचार करेंगे—

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः॥
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहुबाह्वोर्बलम्॥ १॥
ऊर्वोरोजो जंघयोर्जवः पादयोः॥
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः॥ २॥
तनूस्तन्वा मे सहे दतः सर्वमायुरशीय॥
स्योनं मे सीद पुरुः पृणस्व पवमानः स्वर्गे॥ १॥
प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु॥
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥ १॥
उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय॥
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥ १॥

अथर्व. कां. १९ सू. ६०,६१,६२,६३।

अर्थ—मेरे (आसन्) मुखमें पूर्ण आयुकी समाप्ति तक उत्तम वक्तृत्व-शक्ति रहे, नासिकामें प्राणशक्ति संचार करती रहे, आंखोंमें दृष्टि उत्तम प्रकारसे रहे, कानोंमें श्रवणशक्ति रहे, (अ-पलिताः केशाः) मेरे बाल सफेद न हों, (अ–शोणा दन्ताः) मेरे दांत मलीन न हों, मेरे बाहुओंमें बहुत बल रहे, मेरी ऊरुओंमें (ओजः) शक्ति रहे, जांघोंमें (जवः) वेग रहे, पाओंके अंदर (प्रतिष्ठा) स्थिरता और दृढता रहे, मेरे सब अवयव (अरिष्टानि) हृष्टपुष्ट हों, मेरा आत्मा सदा उत्साहपूर्ण रहे। (तनूः) मेरे शरीरके सब अवयव उत्तम अवस्थामें रहें। मुझमें कष्ट (सहे) सहन करनेकी शक्ति हो, मेरे दांत बलवान हों, मैं (सर्व आयुः) पूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त करूंगा। पूर्ण आयुकी समाप्तितक मेरे सब अवयव हृष्ट पुष्ट रहें, मुझे (स्योनं) सुख प्राप्त हो, (पुरु) बहुत पूर्णत्व प्राप्त हो, मैं शुद्ध होकर (स्वर्गे) स्वर्गमें–अर्थात् उत्तम लोकमें–प्रसन्नतासे रहूंगा। (प्रियं) मुझे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंमें प्रिय करो। सब (पश्यतः) देखनेवालोंमें मैं प्रिय हो जाऊंगा। अर्थात् मैं लोकमान्य बनूंगा। हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानके स्वामिन् (उत्तिष्ठ) उठो। और (यज्ञेन) सत्कर्मके द्वारा (देवान् बोधय) विद्वानोंमें जागृति उत्पन्न करो और आयु, जीवन, संतति, पशुपालन, कीर्ति तथा सत्कर्म करनेवालोंका बल बढाओ॥

मनुष्योंको यही इच्छा धारण करनी चाहिए। आयु, जीवन, संतति, पशु, कीर्ति, आदिकी वृद्धि करनी चाहिए। तथा—

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेंद्रियं
च श्रीश्च धर्मश्च ॥ १ ॥
ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च
त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ २ ॥
आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च
प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ ३ ॥
पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं
चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ ४ ॥

अथर्व. १२।५।१–४

"शक्ति, तेज, सहनशक्ति, बल, वक्तृत्व, इंद्रियशक्ति, शोभा, कर्तव्य, जागृति, ज्ञान, शौर्य, राष्ट्रनिष्ठा, लोकनिष्ठा, उत्साह, यश, उग्रता, धन, आयु, सुंदरता, नाम, कीर्ति, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, दूध, रस, अन्न, खानपान, ऋत, सत्य, इष्ट, पूर्णत्व, संतति और पशु आदि इनकी उन्नति और वृद्धिके लिये प्रयत्न होना चाहिए।" इस प्रकार अपनी उन्नतिके विषयमें वेदमें उपदेश हैं। इस लिये किसी मनुष्यको उचित नहीं, कि वह इन कर्तव्योंके विषयमें उदासीन रहे। क्यों कि कहा है—

इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थ देवो वः सविता
प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वम् ॥ यजु० १ ॥

"अन्न और बलके लिये तुमको प्रयत्न करना चाहिए। आप वायुरूप अर्थात् प्राणरूप हैं। परमात्मदेव आप सबको श्रेष्ठतम सत्कर्मोंके लिये प्रेरणा करे। इन कर्मोंको करते हुए ही आप उन्नत हो जाइए।" इस प्रकार उन्नतिका ध्येय सब मनुष्योंके सन्मुख स्पष्ट रीतिसे वेदने रखा है। तथा—

आप्यायन्तु ममांगानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिंद्रियाणि च ॥ सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेस्तु तदात्मनिरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

उपनिषच्छांतिः ।

"मेरे सब अवयव हृष्टपुष्ट होकर उन्नत हों, मेरा वक्तृत्व, जीवन, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब अन्य इंद्रियां तथा सब अवयव बलवान् हो जांय। यह सब ज्ञान है। मैं इस सत्यज्ञानका खंडन नहीं करूंगा। ज्ञानसे मेरा नाश न हो। एकसे दूसरेका नाश न हो। जो ज्ञानकी दिव्य शक्तियां हैं, उनकी स्थिरता मेरेमें हो जावे!" इस प्रकार अपने अवयवोंकी उन्नति, अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, तथा राष्ट्रीय उन्नति प्राप्त करनेके विषयमें वेदमें अनेक आज्ञाएँ हैं। उन शक्तियोंकी प्राप्ति करनेकी मनुष्यमें योग्यता आनेके लिये संध्योपासनाके अंगस्पर्श-मंत्रोंमें सूचना दी है।

'मुझमें वक्तृत्वशक्ति, जीवनशक्ति, दर्शन, श्रवण, आदिशक्ति, बाहुबल, ओजस्विता, आदिकी उन्नति होवे। मेरे सब अवयव हृष्टपुष्ट होकर, सब अवयव अपना अपना कार्य, मेरी दीर्घ आयुकी समाप्तितक, करनेमें समर्थ होवें।' यह इन मंत्रोंका भावार्थ है। इनमें जितने अवयवोंके नाम आये हैं, उनसे भिन्न जो शेष अवयव हैं, उनका भी स्मरण इस समय करना उचित है। क्यों कि पूर्वोक्त मंत्रोंद्वारा वेदमंत्रोंका आशय हमने देखा है, कि मनुष्यकी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि सब प्रकारकी पूर्णता करना वेदके उपदेशका सार है। इस लिये यहां अनुक्त अवयवोंका भी ग्रहण करना उचित है।

इंद्रिय स्पर्शका उद्देश।

जिस अवयवको शीत जलका स्पर्श किया जाता है उस अवयवमें रक्तका संचार अधिक होता है। शीत जलके स्नानसे सब शरीरके अंदर रुधिरका भ्रमण जोरसे होता है, इसी कारण शीतजलका स्नान करते ही शरीरमें उष्णता आती है, और सर्दी कम लगती है। यही बात शीत जलसे इंद्रियस्पर्श करनेसे होती है। जिस इंद्रियको शीत जलका स्पर्श किया जाता है, उसमें रुधिरका संचार अधिक वेगसे होने लगता है। और जहां रुधिरका भ्रमण जोरसे होने लगता है, वहां निर्मलता, नीरोगता, आरोग्य और उत्साह आदिकी वृद्धि होती है; तथा दोष, आलस्य, सुस्ति आदि दूर होते है।

किसी अवयवको जलका स्पर्श किया जावे और साथ ही मनकी पूर्ण एकाग्रता उसी अवयव पर की जावे, तो अनुभव है, कि पांच या दस निमेषोंके अंदर उस अवयवमें बहुत रुधिरका प्रवाह आता है, और वह अवयव उष्ण हो जाता है। इतना मनकी एकाग्रताका प्रभाव है। तात्पर्य किसी अवयव पर शीतजलस्पर्श करके साथ साथ उसपर मनकी एकाग्रता करनेसे उस अवयवकी निर्दोषता और नीरोगता प्राप्त हो सकती है। विशेषतः अपने और साधारणतः बहुत थोडे प्रसंगोंमें दूसरोंके शरीर पर इस बातका अनुभव मैनें स्वयं किया है, कि इस प्रकार शीतजलस्पर्श

और मानसिक चित्तैकाग्र्य करनेसे अवयवोंके दर्द बिलकुल, और बिना औषधिके, हट जाते हैं। हां, इस बातकी विशेष सावधानी रखनेकी आवश्यकता है, कि मनकी एकाग्रताके समय, मनमें किसी प्रकार कुतर्क न आवे, मनमें श्रद्धा और भक्ति रहे, तथा जिस अवयवमें दर्द होता हो, उसी पर ठीक प्रकार चित्तकी एकाग्रता की जावे। हर एक उपासक इस बातका स्वयं अनुभव ले सकता है। इसका विशेष वर्णन योगसाधनके ग्रंथमें होगा वहां पाठक देख सकते हैं।

अंगस्पर्शका विषय विशेष प्रकारके अनुष्ठानका है। जैसा समझा जाता है वैसा केवल स्पर्श मात्रसे उसका पूर्णतया लाभ नहीं हो सकता। संघोंमें बैठ कर सब कपडे लत्ते पहने हुए जब अंगस्पर्शका नाट्य किया जाता है तब वह केवल सूचना मात्र है ऐसा समझिए। मेरे मतसे संध्योपासना अथवा अंगस्पर्श आदि विधि एक एकको एकांतमें बैठकर शांतिके साथ और श्रद्धाभक्तिके साथ ही करना चाहिए। कई लोक प्रदर्शनके लिये संध्या करते हैं, वह उनका आचरण ही अविश्वास और ढोंग बढानेके लिये कारणीभूत होता है। धर्मके अंदर ऐसा न हो तो बडा अच्छा है। अस्तु।

अंगस्पर्श करनेकी विधि।

अंगस्पर्श करनेकी विशेष विधि है। तदनुसार करनेसे ही इससे पूर्णलाभ हो सकता है और संध्याकी तैयारी पूर्ण रीतिसे हो जाती है। संध्याकी तैयारी करके ही संध्या करनी चाहिए। कई लोक यहां पूछेंगे की संध्याकी तैयारीसे तात्पर्य क्या है? उत्तरमें निवेदन है कि, अष्टांग योगमें 'ध्यान' सप्तम अंग है। सम्यक् ध्यान ही 'संध्या' है। सम्यक् 'ध्यान' योगका सतवां अंग है, इसके पूर्व छः अंग हैं। यदि छः अंगोंका अभ्यास नहीं किया जायगा, तो सप्तम 'ध्यान' नामक अंगका अनुष्ठान भी ठीक नहीं हो सकता।

(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि, यह अष्टांग

योग है । पूर्वोक्त सात ही अंगोंके अनुष्ठानसे समाधिकी सिद्धि प्राप्त करना है । समाधिमें अप्रतिम आनंद प्राप्त होता है, इस लिये समाधिकी स्थिति प्राप्त करनेकी अभिलाषा हरएकको होती है, परन्तु हरएक यही चाहता है, कि पूर्वोक्त पूर्व सप्तांगोंके अनुष्ठानके कष्टके विना ही समाधिकी सिद्धि प्राप्त होजावे !!! परंतु यहां मैं कहता हूं कि यह आशा व्यर्थ है । ऐसा नहीं हो सकता । योग विद्याका जो लाभ है वह इस प्रकार नियम तोडनेसे नहीं प्राप्त हो सकता ।

यम नियमोंमें व्यक्ति और समाजके दैनंदिनीय व्यवहारके नियमोंका समावेश होता है । आसनमें शारीरिक योगके व्यायामके विविध प्रकार होतें हैं । प्राणायाममें श्वास उच्छ्वासकी क्रियाओंका नियमन होता है । प्रत्याहारमें इंद्रियोंका संयम मुख्य है । धारणामें चित्तको एक स्थानमें स्थिर करना होता है, और ध्यानमें मानस उपासना करनी होती है । जब ध्यानकी सिद्धि होती है तब समाधिकी प्राप्ति होती है । ये सीढयां एक दूसरेसे ऐसी लगी और जुडी हैं, कि इनको बीचमें तोडना अपनाही नुकसान करना है । इन विषयोंपर विस्तारपूर्वक स्वाध्याय मंडलद्वारा पुस्तकें लिखीं जा रहीं हैं, इस लिये यहां विशेष लिखना उचित नहीं है । परंतु इतना कहनेकी आवश्यकता है, कि बीचकीं सीढियां छोडनेसे ऊपर चढना असंभव है। अब यहां यह बताना चाहता हूं कि पूर्वोक्त अंग-स्पर्शके मंत्रोंका संबंध योगके किनकिन अंगोंसे है—

अंगस्पर्श मंत्र		योगके अंग
(××××)		(१) यम और (२) नियम ।
बाह्वोर्मे बलमस्तु । ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु । अरिष्टानि मेंऽगानि० । बहु बाह्वोर्बलम् । ऊर्वोरोजो, जंघयोर्जवः ।	↓ नीरोगतादि प्र	(३) आसनं

पादयोः प्रतिष्ठा।
तनूस्तन्वा मे सहे।
सर्वमायुरशीय।
आयुः वर्धय।
बाह्वोर्भ्यां यशोबलम्।
नसोर्मे प्राणोऽस्तु।
नसोः प्राणः।
प्राणं वर्धय।
प्राणः प्राणः।
अक्ष्णोर्मे चक्षुः।
चक्षुः चक्षुः।
कर्णयोः श्रोत्रं।
श्रोत्रं। श्रोत्रं।
नाभिः। हृदयं।
कंठः। शिरः।
अपलिताः केशाः।
अशोणा दन्ताः।
वाङ् म आस्येऽस्तु।

बलवर्धक आसन।

(४) प्राणायामः।

(५) प्रत्याहारः

(६) धारणा।

संध्या–(सम्यक् ध्यानं)... ... (७) ध्यानं

योगका फल ... ... (८) समाधि

संध्योपासना की सिद्धि

इससे पता लग जायगा कि अष्टांगयोगका संध्यासे कितना संबंध है। आसनोंके विना प्राणायामकी सिद्धि नहीं है, प्राणायामके विना धारणा नहीं हो सकती। इस प्रकार एक दूसरेका दृढ संबंध है। इसलिये निम्न प्रकार संध्यासे पूर्व तैयारी करना चाहिए।

वेदका उपदेश यद्यपि आत्माके विषयमें प्रथम और शरीरके विषयमें पश्चात् होता है तथापि अनुष्ठानके समय शरीर शुद्धिका अनुष्ठान प्रथम करना चाहिए और बाद इंद्रिय, मन, बुद्धि आदिकी शुद्धिका अनुष्ठान

करना चाहिए। इस विचारके अनुकूल अंगस्पर्श करनेके पश्चात् निम्न प्रकार तैयारी करना चाहिए—

१ बाह्वोर्मे बलमस्तु।...आसन...बाहुओंकी उन्नतिके लिये व्यायाम।

२ ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु।... ,, ...जांघें और पांव आदिकी वृद्धिके व्यायाम।

३ अरिष्टानि मेऽगानि०।... ,, ...सब शरीरके स्नायुओंको हृष्टपुष्ट करनेवाले व्यायाम।

आसन उन योगके व्यायामोंका नाम है, कि जिनसे सब शरीरकी नस नाडियोंकी मलशुद्धि होकर सारे शरीरमें रक्तका प्रवाह उत्तम रीतिसे होता है और सब शरीर नीरोग और बलवान होजाता है। आसनोंका सचित्र पुस्तक स्वाध्यायमंडलद्वारा तैयार हो रहा है। उसको देखनेसे इस आसनविधिका पूर्ण बोध हो सकता है। आसनोंद्वारा कई बीमारियोंका दूर होना प्रत्यक्ष अनुभवसे देखा है, इस लिये यह बात अब अनुभवकी है, नकि केवल ग्रंथोक्त है। इसी लिये प्राणायामके पूर्व आसनोंको अवश्य करना चाहिए। प्राणायामसे प्राणवायुद्वारा प्राण शक्तिका प्रवेश रुधिरमें होता है। यदि आसनोंद्वारा रुधिरका प्रवाह शरीरमें होनेकी सुविधा साध्य न की जायगी तो प्राणायामका आयास निष्फल होगा। इस लिये संध्योपासनाके समय पूर्वाचमनके पश्चात् आसन अवश्य करना चाहिए। जो लोक आसन नहीं जानते उनको उचित है कि वे दण्डासन जिसको 'साष्टांगप्रणिपात' कहते हैं प्राणायामके पूर्व कमसेकम सौ पचास वार अथवा अधिक वार अवश्य किया करें। यह भी न हो सके तो गौण पक्षमें दूसरे व्यायाम, जिनसे हृदयकी कमजोरी होनेका डर न हो और जिनसे सब शरीरके लिये व्यायाम हो सके, अवश्य किया करें। इस प्रकार सब शरीरका व्यायाम करनेसे रक्तका संचार सब शरीरमें ठीक प्रकार होता है, और प्राणायामद्वारा जो प्राण शक्ति अंदर प्रविष्ट होती है, उसका प्रचार सब शरीरके सब अवयवों तक पहुंच जाता है।

यहां इस बातको कहनेकी आवश्यकता है कि, 'बाह्वोर्मे बलमस्तु।' अर्थात् 'मेरे बाहुओंमें बहुत बल आ जावे' ऐसा कहते हुए, मनकी एकाग्रता अपने बाहुओंपर करके, पहिले बाहुओंपर शीत जलका अच्छा स्पर्श करनेके बाद, जो आसन आदिके अथवा अन्य प्रकारके बाहुओंके व्यायाम किये जाते हैं उनसे कमसे कम चौगुणा लाभ होता है। अर्थात् जो बाहुओंकी शक्ति और पुष्टि साधारण व्यायामके द्वारा एक महिनेमें साध्य होती है, उतनी ही शक्ति और पुष्टि, उक्त प्रकार मानसिक बलके साथ आसनादिके व्यायाम करनेसे, आठ दिनमें प्राप्त होती है। इस बातका अनुभव मैंनें बारबार किया है और दूसरोंपर भी वैसा ही देखा है इस लिये मुझे आश्चर्य प्रतीत होता है कि जो जो बातें हमारे वैदिक धर्ममें ऋषिमुनियोंनें सिद्ध करके रखीं हैं, उनसे जैसा लाभ हम लोक ले सकते हैं वैसा भी नहीं लेते, और विविध बीमारियोंमें सडकर कष्ट भोगते हैं। नहीं तो केवल संध्या ही एक ऐसी चीज है कि जिसको योग्य प्रकार कमसे कम दिनमें दोवार करनेसे आरोग्यकी प्राप्ति होती है। इस लिये बाल ब्रह्मचारी भीष्मपितामहनें दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपायोंमें संध्योपासनाकी गिनती की है। देखिए—

ऋषयो नित्यसंध्यत्वात्। दीर्घमायुरवाप्नुवन्॥ १८॥

महाभा. अनुशा. अ. १०४.

'नित्य प्रतिदिन संध्या करनेके कारण ऋषिमुनियोंको दीर्घ आयु प्राप्त हुआ था।' अस्तु। इस प्रकार सब शरीरके अवयवोंको आसनोंके द्वारा अच्छा व्यायाम देनेके पश्चात् प्राणायाम करना चाहिए।

'नसोर्मे प्राणोऽस्तु।' मेरी नासिकामें प्राण रहे, यह आशय प्राणायामके समय मनमें रहना चाहिए। और मनकी एकाग्रता नासिकाके श्वासोच्छ्वासमें होनी चाहिए। मनको किसी दूसरे स्थानमें दौडाना इस समय उचित नहीं है। जो आसन अथवा जो कार्य करना है उसीमें मनको स्थिर रखनेसे ही बहुत लाभ होता है। वैसा लाभ मनको इधर उधर दौडाते हुए मंत्रोच्चारण आदि करनेसे नहीं हो सकता।

इसके पश्चात आंख, कान और वाणीकी शुद्धिका कर्म करना चाहिए। 'त्राटक' से आंखकी शुद्धि होती है। आंखको शीत जलका स्पर्श करके थोडासा मृदु मर्दन करना चाहिए। इससे आंखकी ओर रक्तका प्रवाह शुरू होता है। पश्चात् 'अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु।' मेरी आंखोंमें उत्तम दर्शनकी शक्ति रहे, ऐसी चित्तकी भावना करके आंखमें ही मनकी धारणा करना चाहिए। पश्चात् किसी अच्छे पदार्थका लक्ष्य करके स्थिर दृष्टीसे उसीकी ओर टकटकी लगाकर देखनेसे थोडी देरमें ऐसा चित्त जम जाता है कि उस पदार्थके सिवाय किसी अन्य पदार्थका भान नहीं होता। इस प्रकार करनेसे दृष्टि अच्छी होती है। तथा आंखकी पुतलीको (१) दाहिनी ओर, (२) बांई ओर (३) ऊपर, (४) नीचे घुमानेसे आंखका व्यायाम होता है। तथा किसी बिलकुल पासके सूक्ष्म पदार्थके ऊपर दृष्टि रखकर एकदम अत्यंत दूरके पदार्थ पर दृष्टीको फेंकना, फिर झट पास देखना, फिर दूर देखना; ऐसा करनेसे दृष्टिके सब दोष दूर होते हैं।

कानके विषयमें इतना ही कहना है कि सूक्ष्मसे सूक्ष्म आवाज पर चित्त स्थिर करना चाहिए। शीत जलका स्पर्श करके मनकी वृत्तिको कर्णके श्रवण इंद्रियकी उन्नति करनेके लिये प्रेरित करना, और मनकी भावना ऐसी रखना कि "आत्माकी श्रवणशक्तिसे ही मैं सुन सकता हूं, मेरे आत्माकी शक्ति कभी क्षीण नहीं होती, इस लिये मेरे कानकी अवस्था पूर्ण आयुकी समाप्ति तक अच्छी रहेगी। निश्चयसे अच्छी रहेगी। मैं ऐसा कोई व्यवहार नहीं करूंगा कि जिससे मेरे कानकी शक्ति क्षीण हो सके।"

वाणीकी शुद्धिके विषयमें कण्ठ, जिह्वा आदि स्थानोंमें रहनेवाली वागिंद्रिय पर मनको एकाग्र करना चाहिए। तथा इस समय मनके द्वारा पक्का निश्चय करना चाहिए कि मैं कभी ऐसे शब्दोंका अपने मुखसे उच्चारण नहीं करूंगा कि जिनके कारण मेरी वाणी अपवित्र हो जावे। मैं सदा अच्छे शब्द बोलूंगा और अच्छा ही सुनूंगा। इस प्रकार वाक्शुद्धि हो जाती है। वाणीके अंदर उच्चारणके जो जो दोष होते हैं उनको मानसिक बलसे हटानेका यत्न यदि निश्चयपूर्वक इस प्रकार किया जायगा, तो उत्तम वक्तृत्व शक्ति प्राप्त हो सकती है। मुझे एक उदाहरण विदित है

कि एक २२ वर्षका युवक था जिसको बोलनेके समय 'कूकू' करके बोल-नेका बहुत बुरा अभ्यास था। संध्याके समय मानसिक बलके साथ इस दोषको हटानेका अभ्यास छः मास करनेसे उसका वह दोष दूर होने लगा और एक वर्षमें उसकी वक्तृत्व शक्ति बडी अच्छी हो गई !!!

मनुष्यके मन-बुद्धि-आत्मामें विलक्षण अद्भुत शक्ति है। एकाग्रताके अभ्याससे इन शक्तियोंका विकास हो कर आविष्कार होता है। इस एकाग्रताका अभ्यास संध्यामें किया जाता है। इससे पता लग जायगा कि संध्यासे कितना लाभ हो सकता है।

मनुष्यकी अन्य शक्तियोंके विकासके विषयमें भी इसी प्रकार यत्न किया जा सकता है। शरीरके अंदर उदर, यकृत, प्लीहा आदिकी कार्यक्षमता भी इसी युक्तिसे बढाई जा सकती है तथा हरएक प्रकारकी उन्नति प्राप्त की जा सकती है। परंतु उसके पीछे लग कर कार्य करनेवाले सदाचारी लोक चाहिए। बहुतसे लोक ऐसे होते हैं कि एक दो दिन थोडासा प्रयत्न करनेके बाद झट कहने लगते हैं कि कुछ भी नहीं हुआ। यूँही गपोडे लिखे हैं। इसी लिये इस पुस्तकमें मैंनें वही बातें लिखीं हैं कि जिनका अनुभव मैंनें स्वयं अथवा मेरे मित्रोंने लिया है। अस्तु। इस प्रकार अंगस्पर्श करके संध्याकी पूर्व तैयारी होगई है। इतना होनेके लिये कमसे कम आधा घण्टा लग जाता है। अब संध्याका प्रारंभ किया जाता है।

संध्योपासनाका प्रारंभ।

मंत्राचमन।

आचमनके विषयमें पूर्वस्थलमें लिखा ही है। यहां 'शं नो देवी' आदि मंत्रसे तीन वार आचमन करना चाहिए। आचमनके समय मनका भाव ऐसा रखना चाहिए कि "यह जल बडा दिव्य गुणकारी है और इस जलके सेवन करनेसे मुझे शांति, नीरोगता और शारीरिक सुख निश्चयसे प्राप्त होगा।" जलके गुण वेदमें बहुत ही लिखे हैं, देखिए—

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ॥ ६ ॥
आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम ॥ ७ ॥
इदमापः प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि ॥ ८ ॥ ऋ. १०।९

'सोमने मुझे कहा कि जलके अंदर (विश्वानि भेषजा) सब औषधियां हैं। हे उदको! मेरे शरीरके लिये (वरूथं भेषजं) संरक्षक औषध दीजिए॥ इस जलसे मेरे शरीरके दोष दूर हो जांय॥' इस प्रकार जल ही औषध है इस विषयके अनेक मंत्र वेदमें हैं। उनमेंसे थोडे देखिए—

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्॥

ऋ. १०।१३७।६

'जल निश्चयसे औषधि है, जलसे निश्चयपूर्वक रोग दूर होते हैं, जल सब रोगोंकी दवा है। वह जल तेरे लिये औषध होवे।' तथा—

आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु। घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु॥
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीः। उदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि॥

ऋ. १०।१७।१० यजु. ४।२.

आपो अस्मान्मातरः सूदयन्तु। अथर्व. ६।५।१२

'जल हम सबको पवित्र बनावे। जलसे हम सबकी शुद्धता हो जावे। सब दोष जलसे धोये जांय। इस जलसे मैं शुद्ध और पवित्र बनूंगा।' अथर्व वेदके पाठमें 'आपः सूदयन्तु।' अर्थात् 'जल आराम देवे' यह भाव है। इस प्रकार केवल एक जलसे ही सब बीमारियां दूर होतीं हैं इस विषयमें वेदका एक मत है। इसी उद्देशसे पूर्वोक्त आचमनके मंत्रमें कहा है कि 'यह दिव्य जल हम सबको शांति, आरोग्य और सुख देवे।' यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, ऐसा कहने मात्रसे क्या लाभ हो सकता है? यदि जलसे आरोग्य हो सकता है, तो मानने और न माननेसे उसमें भेद क्यों होगा? अग्निमें जलानेका गुण है, समझकर अथवा न समझकर भी उसका स्पर्श किया जायगा तो अवश्य जलायेगा। ऐसी अवस्थामें मानने न मानने अथवा मनकी विवक्षित भावना रखनेसे क्या लाभ हो सकता है?

ये प्रश्न ऐसे लोक पूछा करते हैं, कि जो मनकी विविध शक्तियोंको नहीं जानते!! 'मनुष्य भावनामय ही है' जैसी भावना रखेगा वैसा ही मनुष्य बन सकता है। यह बात देखी गई है, कि यदि किसी अच्छे अन्नको बुरे भावसे खाया जाय और यह उसका पक्का विश्वास हो जाय, कि यह खाया हुआ अन्न मेरे पेटमें विकार उत्पन्न करेगा, तो अवश्य बीमारी पैदा होती है। इसलिये उपनिषद् में कहा है कि—

अन्नं न निंद्यात् तद् व्रतम्॥ तै. उप. ३।७

'अन्नकी कभी निंदा न करो।' क्यों कि निंदा करके भक्षण किया हुआ अन्न बीमारी उत्पन्न करता है। भोजन करनेके समय यही भावना रखनी चाहिए कि 'यह अन्न बडा अच्छा है, इसको मैं खाकर अवश्य पचन करूंगा और इससे मैं अवश्य बलवान् बनूंगा।' यदि भावना दृढ होगी तो साधारण बुरा अन्न भी बाधक नहीं होगा। जो अन्नकी बात है वही बात जलके विषयमें है। यदि जलपानके समय मनमें यह बात खटकेगी कि 'कदाचित इस जलमें विविध रोगके कृमि होंगे, ये कृमि शरीरमें जाकर रोग उत्पन्न करेंगे और मैं शायद रोगी बनूंगा।' तो बहुत अंशमें पेटमें गडबड उत्पन्न होगी। इस लिये इस प्रकारकी बुरी भावना

अपने पास नहीं करनी चाहिए और ऐसी ही मनकी भावना करना चाहिए कि, 'यह दिव्य जल निःसंदेह मुझे शांति, आरोग्य और सुख देगा'। न केवल जलके विषयमें परंतु सब पदार्थोंके सेवनके समय मनमें यही भावना धारण करनी चाहिए। और जगत्की सब घटना की ओर चित्तकी प्रसन्नताके साथ देखना चाहिए। नहीं तो कई लोक सदा रोनेवाले होते हैं, वृष्टि लगी तो भी रोते रहेंगे, और न लगी तो भी रोयेंगे। ऐसे लोकोंके लिये यह जगत् नहीं है। वेदका उपदेश है कि जगत्की पूर्णताका ही विचार करो और प्रसन्नताके साथ जगत्की सब घटनाओंसे मनकी वृत्तियोंमें आनंद और उल्लास रखो। इस लिये जलके सेवन करनेके समय उक्त शुभ भावना मनमें रखनेकी आवश्यकता है। देखिए शतपथमें कहा है—

अप उपस्पृशति…तेन पूतिरन्तरतो
मेध्या वा आपः… ॥ १ ॥
यद्वेवापः प्रणयति। अद्भिर्वा इदं सर्व-
माप्तं तत्प्रथमेनैवैतत्कर्मणा सर्वमाप्नोति ॥ १४ ॥
शत. ब्रा. १।१।१

'जलका आचमन करता है, उससे आंतरिक पवित्रता होती है क्योंकि जल पवित्र है॥ जलको इस लिये ले आता है कि जलसे यह सब जगत् व्याप्त है, इसलिये इस पहिले ही कर्मसे सब प्राप्त करता है।' इस वचनसे पता लगता है कि किस दृष्टिसे जलकी ओर देखना चाहिए। 'परमेश्वरका व्यापक शांत गुण' जलरूपसे जगत्में आ गया है और सर्वत्र शांतता और सुख उत्पन्न करता है, इस पवित्र भावनासे जगत्के जल तत्वकी ओर देखना चाहिए। इसी प्रकार अन्यपदार्थोंकी ओर देखना उचित है। जब इस दृष्टिसे देखा जायगा तब सब जगत्के विषयमें शुभ भावना मनमें स्थापित होगी। इस दृष्टिसे आचमनके मंत्रको देखिए।

जलका अन्य उपयोग करनेके समयमें भी यही भावना मनमें रखना चाहिए। आचमन करना, पीना, स्नान करना, हाथ पांव धोना आदि किसी कार्यके लिये जलका उपयोग करना हो तो यही उच्च भावना—

मनमें धारण करनी चाहिए। कुतर्क न करते हुए यदि यह भावना मनमें स्थिर हो जायगी तो निःसंदेह जलसेवनसे पूर्ण लाभ हो सकता है। मनको इसी प्रकारका अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार आचमन करनेके पश्चात् इंद्रिय स्पर्श करना है।

इंद्रिय स्पर्श।

अंगस्पर्शके विषयमें जो पूर्वस्थलमें लिखा है उसका अनुसंधान यहां फिर करना चाहिए। 'नाभी, हृदय, कंठ, सिर और हाथ' इन पांच अवयवोंके नाम यहां पूर्व की अपेक्षा अधिक आगये हैं, नाम कितने भी आये हों अथवा न आये हों; नाम आने न आनेकी कोई विशेष बात नहीं। 'अरिष्टानि मे अंगानि।' इस वाक्यसे उक्त और अनुक्त सब अवयवों, अंगों और इंद्रियोंका बोध होता ही है। और इसीसे सूचना मिलती है कि न कहे हुए अवयवों और इंद्रियोंके विषयमें भी उन्नति करना उपासकका कर्तव्य है। यदि वह न करेगा तो वह अपने कर्तव्यसे गिरेगा।

'नाभि' शब्द शरीरकी मध्यवर्ति समान शक्तिका बोधक है, तथा जनन अथवा प्रजोत्पादन शक्तिका भी द्योतक है। ब्रह्मचर्य, वीर्यरक्षण, ऊर्ध्वरेता बननेकी यौगिक विधि आदिसे नाभिस्थानकी शुद्धि होती है। और इसीसे इस स्थानकी शक्तिकी वृद्धि होती है। नाभिस्थानमें अनेक स्थानसे नस नाडियोंका संगम होता है, और इस स्थानमें समानशक्तिकी पूर्ण स्थिरता होनेसे सब शरीरका विशेष लाभ होता है।

'हृदय' भक्तिका स्थान है। परमेश्वरकी भक्तिसे इस हृदयका बल बढ जाता है। भक्तिसे हृदयकी विविध शक्तियोंका विकास होनेसे उस उपासकके शब्दमें सिद्धिका बल आता है और जो वह कहता है सिद्ध हो जाता है। आज कल तर्क-वितर्क-कुतर्कका युग शुरू होनेसे भक्तिका अभाव हो रहा है, और इसी लिये भक्तियोगकी उक्त सिद्धिपर किसीका विश्वास नहीं बैठता। इसलिये इस एक नियमकी ओर सबका ध्यान आकर्षित होना आवश्यक है कि, (१) भक्तिकी अनियमितता होनेसे

'अंध विश्वास' उत्पन्न होता है, (२) और तर्ककी अत्यंत वृद्धि होनेसे 'नास्तिकता' आती है। दोनों घातक हैं, इसलिये वैदिक धर्ममें दोनोंका समभाव रखा है, देखिए—

> मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
> मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥
>
> अथर्व. १०।२।२६.

'(अस्य) इसका (मूर्धानं हृदयं च) मस्तिष्क और हृदय (सं) एक करके (सीव्य) सीकर (पवमानः) पवित्र (अ-थर्वा) स्थितप्रज्ञ योगी (शीर्षतः अधि) सिरके ऊपर (मस्तिष्काद्) मस्तिष्कसे (ऊर्ध्वः) परे (प्रैरयत्) प्रेरित होता है।' अर्थात् (१) **मस्तिष्क और हृदयको एक बना कर सम उन्नत रखना, (२) और पवित्र बनकर मस्तिष्कके परे अर्थात् तर्ककी भूमीसे परे कूदना,** ये दो उपदेश इस मंत्रमें अत्यंत महत्व पूर्ण आगये हैं। किसी अन्य धर्म ग्रंथमें इस प्रकार इस बातको साफ नहीं किया है। यह केवल वेदहीका महत्वपूर्ण उपदेश है कि जो हृदय और मस्तिष्कको एक करनेके लिये बताता है। मस्तिष्कका कार्य तर्क-वितर्क-कुतर्क करना है और हृदयका कार्य भक्ति करना है। तर्क और भक्तिके जो नास्तिकता और अंधविश्वास परिणाम हैं, उनको हटानेके लिये वेदने सबसे उत्तम व्यवस्था कही है। तर्क और भक्तिका संयोग हो जानेसे तर्कसे भक्तिका दोष हटेगा और भक्तिसे तर्क पवित्र हो जायगा। और दोनों निर्दोष होनेके कारण मनुष्योंके अच्छे सहायक बन जांयगे। इस प्रकार हृदयकी पवित्रता और निर्दोषता साध्य करनी चाहिए। और इसीके साथ सिरको रखनेसे भक्तिके साहचर्यके कारण सिर भी पवित्र होगा।

कंठकी पवित्रताके विषयमें तथा हाथोंकी पवित्रताके विषयमें विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार इतर अवयवों अंगों और इंद्रियोंके विषयमें सुज्ञ पाठक समझ लेंगें। सब शरीर इंद्रिय, मन तथा बुद्धि आदिके विषयमें अच्छा विचार करके दोषोंको दूर और गुणोंको अपनानेसे उन्नति होती है। सब स्थानकी पवित्रतासे उन्नति और अपवित्रतासे अवनति होती है। यह सार्वत्रिक नियम है।

प्रत्येक इंद्रियपर हाथ रखकर, स्पर्श करके उसकी परीक्षा करना चाहिए। इंद्रियपर हाथ रखनेका यही तात्पर्य है। निरीक्षणकी दृष्टिसे यदि इंद्रिय स्पर्श न किया जाय तो उसका कोई लाभ नहीं है। सबको यहां ध्यानमें धरना चाहिए कि दूसरोंकी परीक्षा करना सबसे आसान है और अपना निरीक्षण करना सबसे बडा कठिन है। इसी लिये वैदिक धर्ममें 'आत्मपरीक्षण' पर सबसे अधिक बल दिया है।

मार्जन ।

'मार्जन' का अर्थ शुद्ध करना, पवित्र बनाना अथवा निर्मल करना है। अंग स्पर्श तथा इंद्रिय स्पर्शके द्वारा अपने अवयवोंकी पुष्टि, वृद्धि और उन्नति साधन करनेका यत्न हो चुका है। पवित्रताके विना पुष्टि लाभदायक नहीं हो सकती। (clean life) पवित्र जीवनके साथ (strong body) बलवान् शरीर प्राप्त होना चाहिए, अन्यथा केवल बलवान् शरीर अधिक दुराचार करनेमें प्रवृत्त होगा। अर्थात् पवित्रताके विना प्राप्त हुई शक्ति अपनाही घात करनेवाली हो सकती है। इस लिये शुद्धताकी प्राप्ति अवश्य करना चाहिए।

नगरकी शुद्धि सर्वत्र सफाई करनेसे होती है, गृहकी शुद्धि झाडने, लोटने, लीपने आदिसे होती है, शरीरकी शुद्धि स्नान आदिसे होती है, इसी प्रकार प्रत्येक अंगकी शुद्धिका विशेष मार्ग है। जिस अवयवकी जिस प्रकार शुद्धि करना आवश्यक हो उसी प्रकार उसकी शुद्धि करनी चाहिए। अन्यथा लाभ नहीं हो सकता। संध्याकी मार्जनविधिमें जो शुद्धिका साधन करनेका ढंग लिखा है उसका तत्त्व निम्न प्रकार है।—

(१) (भूः) अस्तित्व सिरकी पवित्रता करे। सिरमें मस्तिष्क है और यह विचारका स्थान है। मस्तिष्कमें सुविचार और कुविचार दोनों चलते हैं। सुविचारोंसे देवत्व और कुविचारोंसे राक्षसत्व प्राप्त होता है। मनुष्य विचारमय है। जैसे जिसके विचार होते हैं वैसा उसका 'स्व-रूप' होता है। इस लिये अपने अस्तित्व (Existence) से अर्थात् अपने जीवनसे मस्तिष्ककी शुद्धि करनी चाहिए। मस्तिष्ककी शुद्धि सबसे मुख्य

है । मस्तिष्ककी पवित्रता और अपवित्रतासे मनुष्यत्व, देवत्व और असुरत्व सिद्ध होता है । इस लिये इसी मार्जनके सप्तम मंत्रमें (सत्यं) सत्यसे फिर सिरकी शुद्धि करनेकी सूचना दी है । अर्थात् अपने जीवनके साथ सत्यकी निष्ठा ऐसी जोडनी चाहिए, कि जिससे अपने अस्तित्वसे सत्य कभी दूर न होवे ।

(२) (भुवः) कल्पनाशक्ति अर्थात् चिंतन अथवा ज्ञानशक्ति अपने नेत्रोंको पवित्र करे । सबसे प्रथम मनुष्य मात्र अथवा प्राणि मात्र नेत्रोंसे ज्ञान लेता है । इस लिये ज्ञानसे ज्ञानेंद्रियोंकी पवित्रता करनेकी सूचना यहाँ लिखी है । नेत्रसे बुरी दृष्टिद्वारा किसीकी ओर नहीं देखना चाहिए । बुरी दृष्टिके प्रक्षेपसे ब्रह्मचर्यका नाश हो सकता है तथा अन्य प्रकारसे हानि होनी संभव है । इस लिये नेत्र आदि इंद्रियोंकी पवित्रता सिद्ध करना आवश्यक है । नेत्र आदि इंद्रियोंको इस प्रकार सुशिक्षित करना चाहिए कि वे कभी बुरे भावसे किसीकी ओर न देखें तथा किसी बुरे कर्ममें प्रवृत्त न होवें ।

(३) (स्वः) अपना स्वत्व कंठकी पवित्रता करे । कंठ वाचाका प्रतिनिधि है । और वाचा शक्ति मनुष्यकी विशेष शक्ति है । इतर प्राणियोंमें वाचाशक्ति अस्फुट है परन्तु मनुष्यमें वक्तृत्वशक्ति स्फुट और परिपूर्ण है ! इस लिये मनुष्यका 'स्व-त्व' वक्तृत्व शक्ति ही है । इसी कारण मनुष्यको चाहिए कि वह अपनी वक्तृत्व शक्तिकी पवित्रता करे । कोई ऐसा शब्द मुखसे न बोला जाय, ऐसा वाक्य लेखमें न लिखा जाय, ऐसा शब्द कानसे न सुना जाय कि जो अपवित्रता उत्पन्न करनेवाला हो । मुखसे बुरे शब्दोंका उच्चारण कदापि नहीं करना चाहिए ।

(४) (महः) महत्ता हृदयकी पवित्रता करे । अपनी महत्ता (Our greatness) हृदयको पवित्र करे । उदारता, महत्त्व, दिलावरी, बडप्पन आदि भाव जो मनुष्यमें होते हैं, उनसे हृदयकी पवित्रता संपादन करना चाहिए । उक्त गुण हृदयके ही हैं । इस लिये उनसे हृदयकी पवित्रता हो सकती है । हरएकको हृदयके उक्त गुण संपादन करना उचित है । केवल मस्तिष्ककी पवित्रता संपादन करनेसे कार्य नहीं चलेगा ।

क्यों कि मस्तिष्ककी केवल विचार शक्ति बढ जानेसे वह अंतमें नास्तिकतामें पहुंचानेवाली होती है। इस लिये उसके साथ हृदयकी गंभीरताको जोडना चाहिए। हृदयकी गंभीरता और गहनता ही मनुष्यका चरित उदार बनानेवाली है।

(५) (जनः) जननशक्ति नाभिस्थानकी पवित्रता करे। इस विषयमें पूर्वस्थलमें लिख ही आए हैं। जननशक्ति वीर्यके बलकी सूचक है। इस स्थानकी पवित्रतासे ब्रह्मचर्य रक्षण तथा उत्तम संतानकी उत्पत्ति हो सकती है। इस विषयमें पाठक अधिक सोच सकते हैं।

(६) (तपः) तपने अर्थात् कष्ट सहनेकी शक्ति पांव आदि स्थूल अवयवोंको पवित्र बनावे, यहांका 'पाद' शब्द कर्म इंद्रियोंका सूचक है। अन्य कर्म इंद्रियोंके विषयमें भी इसी प्रकार पवित्रता और शुद्धि संपादन करनी चाहिए।

(७) 'सत्य'के विषयमें पूर्वस्थलमें लिखा जा चुका है।

(८) (खं ब्रह्म) ओंकार वाच्य ब्रह्म सब प्रकारकी शुद्धि करे। पूर्वोक्त सात प्रकारोंसे सब अवयवों और अंगोंकी शुद्धि करनेका प्रयत्न मानवी पुरुषार्थके साथ करनेके पश्चात् यहां परमात्माकी प्रार्थना की जाती है, कि जो हमारे प्रयत्नमें न्यूनता रही हो, उसको दूर करनेका कार्य परमात्माकी अपार दयासे हो। क्यों कि केवल मानवी पुरुषार्थहीसे सब साध्य नहीं हो सकता। परमेश्वरकी दयाका आश्रय अवश्य होना चाहिए। किंवा इसका और एक भाव निकल सकता है:—ॐ अर्थात् (अ) जागृति, (उ) स्वप्न और (म्) सुषुप्तिका हमारा (खं) इंद्रिय व्यवहार तथा हमारा (ब्रह्म) ज्ञान सर्वत्र सब प्रकारकी पवित्रता करे।

'अ-उ-म्' ये तीन अक्षर जागृति-स्वप्न-सुषुप्तिके वाचक हैं, ऐसा मांडूक्य उपनिषदमें लिखा है। 'ख' शब्द इंद्रियवाचक तथा 'ब्रह्म' शब्द ज्ञानवाचक प्रसिद्ध है। इस विषयमें पाठक अधिक विचार कर सकते हैं। अस्तु। उक्त मार्जनके प्रकारोंका ठीक बोध होनेके लिये निम्न कोष्टक बनाया गया है—

मार्जनका कोष्टक।

व्याहृति	अर्थ	स्थानकी पवित्रता
भूः	अस्तित्व, सत् Existence	शिरः—सिरकी पवित्रता Purification of brain
भुवः	ज्ञान, चित् Knowledge	नेत्रे—ज्ञानेंद्रियोंकी शुद्धि Purification of organs of perception
स्वः	आत्मा–(आनंद) Self–(Bliss)	कण्ठः—वागिंद्रियकी शुद्धि Purification of speech
महः	महत्त्व Greatness	हृदयं—अंतःकरणकी शुद्धि Purification of heart
जनः	जननशक्ति Procreative power	नाभिः—नाभिस्थानकी शुद्धि Purity of virile power
तपः	तपस्। Power of endurance	पादौ—कर्मेंद्रियोंकी सहनशीलता Purity of the organs of action
सत्यं	सत्य Truth	शिरः—सिरकी शुद्धि Purity of thought
ॐ अ-उ-म्	जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति Waking, dreaming and sleeping conditions	सर्वत्र शुद्धि Purity of every thing
खं	इंद्रिय Organ of sense	
ब्रह्म	ज्ञान Knowledge	

इस कोष्टकसे बहुतसी बातोंका पता लग सकता है। पाठक भी इन शब्दोंके गूढ अर्थोंका विचार करें। विचार करनेसे जीवनकी शुद्धिका ढंग ज्ञात हो सकता है।

मार्जनका मुख्य उद्देश 'आत्म-शुद्धि' है। प्रतिदिन संध्याके समय अपनी पवित्रताका निरीक्षण और परीक्षण करना चाहिए। प्रतिदिन मनको बुरे विचारोंसे रोकने और अच्छे विचारोंमें प्रवृत्त करनेसे सब प्रकारकी शुद्धि प्राप्त हो सकती है। जो प्रयत्न करेगा वही फल पा सकता है।

प्राणायाम।

सप्त व्याहृति।

'व्याहृति' का अर्थ 'उच्चार, statement, विधान, कथन, सांकेतिक शब्द, विशेष गूढ अर्थका शब्द है'। संध्यामें सप्त व्याहृतियोंका महत्व अत्यंत है। सात मुख्य केंद्रोंकी सूचना इन शब्दोंसे हो रही है। (१) अस्तित्व, सत्ता; (२) चिंतन, कल्पना, विचार, चित्; (३) स्वत्व, आत्मानुभव; (४) महत्त्व, उदारता; (५) जननशक्ति; (६) कष्ट सहनेकी शक्ति और (७) सत्य निष्ठा; ये सात गुण मनुष्य मात्रकी उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। इनके विना मनुष्यकी उन्नति साध्य नहीं हो सकती। इन शक्तियोंको प्राप्त करना, बढाना और जगत्के उद्धारके लिये इनका अर्पण करना, सबको योग्य और आवश्यक है।

प्राणायाममें तीन क्रियाएं होती हैं। पूरक, कुंभक और रेचक। प्राप्ति, धारण और अर्पण ये तीन भाव यहां अभिप्रेत हैं। (१) पूरकसे बाह्य प्राणको अंदर लिया जाता है, (२) कुंभक से उस प्राप्त प्राणकी धारणा की जाती है, और (३) रेचकसे उस प्राणका फिर जगतके सर्वव्यापक प्राणमें अर्पण किया जाता है। ये तीन प्रकार निम्न क्रियाओंके सूचक हैं। (१) उक्त सप्त गुणोंकी अपने अंदर पूर्णता करना, (२) उनकी धारणा और वृद्धि करना, और पश्चात् (३) जगत्की उन्नतिके लिये उनका अर्पण करना। प्राणायाममें उक्त सात व्याहृतियोंके होनेका यही तात्पर्य है। यही एक बडा भारी यज्ञ है।

यज्ञ

य	ज	न
यमन	जनन	नमन
सत्कार	संगति	दान
प्राप्ति	धारणा	त्याग
पूरक	कुंभक	रेचक
गुणसंपादन	गुणसंवर्धन	गुणसमर्पण
ब्रह्मचर्याश्रम	गृहस्थाश्रम	वानप्रस्थ, संन्यास

ॐकारका स्मरण करके सात गुणोंका संपादन–संवर्धन–समर्पण करनेका अभ्यास संध्यामें किया जाता है । ये सब गुण परमात्माके अंदर अत्यंत पूर्णतासे हैं । अभ्याससे उनको मनुष्य अपने अंदर प्राप्त कर सकता है । प्रतिदिनके अभ्याससे मनुष्य अपने अंदर शुभ गुणोंकी वृद्धि कर सकता है और अशुभ दुर्गुणोंको दूर कर सकता है । निश्चयके साथ प्रयत्न करनेसे प्रत्येक मनुष्यको यह साध्य हो सकता है। प्रत्येक मनुष्यके आधीन है कि वह अपने मनमें विशिष्ट विचार लावे या न लावे । मनुष्यका आत्मा मनका गुलाम नहीं है परंतु वह मनका स्वामी है । यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए ।

पूर्वोक्त सप्तव्याहृतियोंके सूचक सात शुभगुण पूर्णतया परमात्माके अंदर विद्यमान हैं (१) भूः–सत्ता, प्राण, सब जगत्का जीवन; (२) भुवः–अपान दुःख दूर करना, ज्ञान; (३) स्वः–सुख, आनंद, स्वत्व; (४) महः–महत्ता, सबसे बडा होना; (५) जनः–सबको उत्पन्न करनेकी शक्ति; (६) तपः–दुष्टोंको तपाना, दुष्टोंका दमन करना; (७) सत्यं–सत्य, त्रिकालाबाधित होना; आदि सात शुभ गुण मुख्यतया तथा पूर्णतया परमात्मामें हैं । ये परमात्माके गुण उपासना द्वारा मनुष्य अपने अंदर लाता और धारण करता है । सब शुभ गुण इसी प्रकार मूल स्रोत परमात्मासे जीवात्माके अंदर आते हैं ।

जिस प्रकार ज्ञान गुरुसे प्राप्त करना, मननसे बढाना और पश्चात् उसका परोपकारके लिये विनियोग करना होता है; व्यायामादि द्वारा बल बढाना, और दूसरोंकी रक्षाके लिये उसका विनियोग करना होता है ।

उसी प्रकार सब शुभगुणोंकी प्रथम प्राप्ति करना, पश्चात उनकी वृद्धि करना और अनंतर उनका परोपकारके लिये समर्पण करना होता है। ठीक उसी प्रकार सप्त व्याहृतियोंके सात गुण अपने अंदर बढा कर उसका परोपकारमें समर्पण करना है। परमेश्वरके ही गुण परमेश्वरके महान यज्ञमें लगाने हैं। लगानेमें स्वयं साधन रूप बनना है, इसी लिये धर्मके सब विधि और नियम हैं। गुण अपनेपास आनेके पश्चात् स्वार्थ उत्पन्न होता है और जनताकी उन्नतिमें बाधा उत्पन्न करनेमें मनुष्य प्रवृत्त होता है। ऐसी राक्षसी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। यही यहां उपदेश है।

प्राणायामसे बलकी वृद्धि।

प्राणायामसे सब शरीरका बल बढता है और मनकी शक्तिकी उन्नति होती है। परमात्माकी जीवन अर्थात् प्राणशक्ति सूर्यके द्वारा सब वायुमें फैलती है, उस प्राणशक्तिसे संयुक्त हुआ वायु प्राणायाम द्वारा शरीरमें जाता है, वहां रुधिरके साथ संबंधमें आकर अपनी जीवनशक्तिको रुधिरमें स्थापित करता है और पश्चात् बाहर आता है। यही प्राणायामके पूरक, कुंभक और रेचक हैं। यह जीवन शक्ति सब शरीरका आरोग्य स्थिर रखनेमें पूर्णतया समर्थ है, क्यों कि यह परमात्म-शक्ति होनेसे कोई दवा इसके बराबर उत्साह नहीं दे सकती। सूर्योदयके समय, मध्यान्हके समय, तथा सूर्यास्तके समय, प्राणायाम करनेसे मनका उत्साह इतना बढता है, कि उसके बराबर कोई उत्साह वर्धक औषध नहीं है। प्रतिवार सौपचास प्राणायाम अच्छी प्रकार करना उचित है।

शरीरमें किसी स्थानपर बीमारी होनेके समय, मनकी प्रेरणा और प्रबल इच्छा शक्तिद्वारा इस प्राणशक्तिको उस रुग्ण स्थानपर पहुंचानेसे बीमारी हट जाती है। इस प्रकार बिना औषध आरोग्य प्राप्त होनेके लिये प्रबल इच्छा शक्ति होनेसे सुफलता होती है इसमें कोई संदेह नहीं है। मनकी संशयित वृत्तिसे व्याधि बढती है।

प्राणायामसे प्राणोंका संयम होता है, उससे मन और चित्त स्वाधीन होता है, और मनके स्वाधीन होनेसे सब इंद्रियों और अवयवोंको स्वा-

धीन किया जाता है। यही इंद्रिय संयम है कि जो प्राणायामसे सिद्ध हो सकता है। अपनी हरएक इंद्रियकी परीक्षा करके उसके दोष दूर करने और उसमें शुभ गुण स्थापित करनेके लिये सदा प्रयत्न होना चाहिए।

अघ–मर्षण।

'अघ' शब्दका अर्थ 'पाप' है और 'मर्षण' का अर्थ 'सहन करना' है (मृष्=सहने)। पापका परिणाम सहन करनेके लिए मनकी तैयारी कराना इस अघमर्षणके मंत्रोंका प्रयोजन है।

अपनी ओरसे जो दोष, पाप, दुराचार आदि होते हैं, उनकी क्षमाकी प्रार्थना करना, और उनके दंडसे बच जाना, मनुष्यमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कोई भी साधारण मनुष्य कभी नहीं चाहता, कि मैं अपने किये दोषोंका दंड भोगूं। अपितु सब ऐसा ही चाहते हैं, कि किये हुए दोषोंके दंडसे मैं किसी न किसी प्रकार बच जाऊं। मनुष्यके अंदर यह बहुत बुरा भाव है। इसको हटाना संध्यायोगका मुख्य कर्तव्य है। न्यायानुकूल तो यही बात होनी चाहिए, कि जो जिसने जैसा पाप किया है उसको वैसाही दंड भोगनेके लिये धैर्यके साथ तैयार होना चाहिए। पाप तो मैं करूं और दंड भोगनेके समय भाग जाऊं, यह भीरुता है। भीरुता धर्म नहीं हो सकता। धृति अर्थात् धैर्य ही धर्म है। पाप करनेके पश्चात् यही धैर्य है, कि उस किये हुए पापको मानना और योग्य दंड भोगनेके लिये आनंदसे सन्नद्ध होना। इस प्रकारकी धैर्यमय धार्मिक प्रवृत्तिको उपासकके अंदर बढानेका कार्य अघमर्षणके मंत्र कर रहे हैं।

कई लोक यहां पूछते हैं, कि प्रलयका वर्णन करनेवाले मंत्रोंका इस 'अघ–मर्षण' के साथ क्या संबंध है? प्रथमतः ऊपर ऊपर देखनेके समय कोई संबंध प्रतीत नहीं होता। परंतु उसका आंतरिक संबंध बडा भारी है।

निद्रा, मृत्यु और प्रलय ये तीन प्रलय हैं। निद्रा दैनिक प्रलय है, मृत्यु प्रत्येक प्राणिमात्रका प्रलय है तथा प्रलय सर्व जगत्का महाप्रलय है। मनुष्यके अंदर साधारणतः एक प्रवृत्ति होती है जो कहती है कि—

ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् । भस्मीभूतस्य
देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ नास्तिक दर्शन ।

"ऋण करके घी पिओ । जो मर्जी है करो, खाओ पीओ, आनंद करो । मृत्यु होनेके पश्चात् फिर पुनरागमन कहां है" अर्थात् इस जीवनके समयमें जो कुछ आप करेंगे उसका सुख या दुःख दूसरे जन्ममें नहीं होता है । शरीरके नाश होनेसे उसके किये हुए सब पाप पुण्य शरीरके साथ नष्ट हो जाते हैं । उसी प्रकार जगत्का प्रलय होनेके पश्चात् पूर्व जगत्में किये पापपुण्य भी समूल नष्ट हो जाते हैं ।

सब नास्तिकोंका यही मत है । इस मतके कारण जगत्में बडा अनर्थ हो रहा है । सब अशांतिके मूलमें यही मत बैठा है । मैं यथेच्छ आचरण करूंगा और दूसरोंकी पर्वाह न करता हुआ मैं सुखी हो जाऊंगा । यह मत राक्षसी और आसुरी प्रवृत्तिका है । इसका खंडन करना और न्यायानुकूल धार्मिक व्यवहारकी स्थापना करना वेदका उद्देश है । इस आसुरी-मतके खंडनके लिये उक्त अघमर्षणके मंत्रोंमें कहा है कि—

धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥

'परमेश्वरनें पूर्व जगत्के समान ही यह जगत् बनाया है ।' अर्थात् पूर्व जगत्में जिसनें दस आने पुण्य किया होगा उसका दस आने पुण्य इस जगत्में उसके साथ रहेगा तथा जैसा जिसने पाप किया होगा, उसके साथ वैसा ही पाप इस जगत्में रहेगा । अर्थात् मनुष्यके आधीन होगा कि वह अपना पुण्य बढावे अथवा पाप दूर करे ।

कलका किया हुआ ऋण अथवा धन जैसा रात्रीके व्यतीत होनेसे नष्ट नहीं होता, जैसाका वैसा ही ऋण अथवा धन रहता है । उसी प्रकार पापपुण्य मृत्युके पश्चात् और प्रलयके अनंतर भी वैसाका वैसा ही रहता है । मृत्यु अथवा प्रलयसे उसके पापपुण्यकी स्थितिमें भेद नहीं होता । अर्थात् पापपुण्य फल भोगके पश्चात् ही दूर होते हैं, उससे पूर्व वे दूर नहीं होते; यह निश्चय उक्त मंत्रद्वारा यहां किया गया है । यही निश्चय न्यायानुकूल आचरण होनेके लिये अत्यंत आवश्यक है । किये हुए पाप-

पुण्य फल भोगके विना दूर नहीं होते, ऐसा जब निश्चय होगा, तब अधिकारी अपने अधिकारके कारण दूसरोंको कष्ट नहीं दे सकेगा, धनवान् अपने धनके घमंडसे दूसरोंको हानि न पहुंचाएगा, तथा अन्य मनुष्य दूसरोंके ऊपर निर्दयतासे अत्याचार न करेंगे।

जगत्की उत्पत्ति और प्रलयकी विशाल घटनाका एक वार संध्याके समय अवश्य विचार और मनन करनेकी यह भी आवश्यकता है कि ईशके ऋत और सत्य नियम संपूर्ण संसारमें किस प्रकार कार्य कर रहे हैं, महान्से महान् शक्तिशाली मनुष्य चकनाचूर हो रहा है, बडे बडे राजे महाराजे जो विशाल सेनासमुद्रको धारण कर अपनी शक्ति के घमंडमें रहते हैं, नष्ट हो रहे हैं; जो अपने बाहुबलसे मस्त हो रहे हैं वे छोटेसे मनुष्यके प्रयत्नके कारण धूलीमें मिल रहे हैं; दूसरे धार्मिक लोक सदाचारमें रममाण होनेके कारण अकिंचन होनेपर भी सब लोकोंके वंदनीय बन रहे हैं; आत्मिक बल धारण करनेवाली किन्तु, शरीरसे निर्बल और दुर्बल, व्यक्तियां भी सम्राटोंका मुकाबला कर रहीं हैं और उनके ब्राह्मबलके सन्मुख बडे बडे सम्राटोंका विशाल क्षात्रबल क्षुद्र है, ऐसा प्रतीत होने लगता है; इस प्रकारकी घटनाएं जब संसार भरमें देखी जाती हैं तब दृष्टि विशाल होती है, और दृष्टिके संकोचके कारण जो मानसिक कमजोरियां होती हैं, नष्ट हो जाती हैं।

जगत्के अंदरकी विशाल घटनाएं, मृत्युके और जन्मके विलक्षण चमत्कार, अद्भुत विशाल दृश्योंकी महत्ता, सूर्यचंद्रादि विशाल लोक लोकांतरोंका उद्भव और विनाश, शक्तियोंका संयोग और वियोग आदि सांसारिक घटनाओंका विचार करनेसे मनका संकोच दूर हो जाता है। मन विशाल होता है और सर्व जगत् की भावनाके साथ अपने छोटेपनका विचार मनमें आने लगता है। इस प्रकारके उदात्त विचारोंसे उनके मनमें बात ठीक जम जाती है कि परमात्माके ऋत और सत्य नियम मेरा पक्षपात नहीं करेंगे। सबके ऊपर उन नियमोंका सार्वभौम साम्राज्य एक जैसा ही रहेगा। जब इस प्रकार उसके मनमें भाव आ जाता है तब उनका घमंड दूर हो जाता है और वह न्यायानुकूल अपना आचरण करनेके

लिये तैयार होता है। और अपने अन्यायका दंड भोगनेके लिये स्वयं तैयार हो जाता है। यही सच्ची धार्मिक अवस्था है, जो जगत्के प्रलय और उत्पत्तिका मनन करनेसे प्राप्त होती है।

इस विषयमें अधिक तर्कवितर्क करनेकी आवश्यकता नहीं। स्वयं संध्याके समय प्रलयकी वियोग स्थितिका मनन और उत्पत्तिके संयोग स्थितिका विचार करना चाहिये। प्रतिदिन दो वार नित्य विचार करनेसे स्वयं अपने ही मनमें उक्त विचार उत्पन्न होने लगता हैं। मन विशाल होता है और मनका संकुचित भाव नष्ट होने लगता है।

जब जगत्के प्रलयसे पूर्व पापपुण्य नष्ट नहीं होते, तब मृत्युके कारण अथवा निद्राके कारण नष्ट नहीं हो सकेंगे। तथा शरीरके अंदरके सूक्ष्म प्रलयसे भी शरीरकृत पापपुण्य नष्ट नहीं होंगे। पूर्ववत् वैसेके वैसे ही फलभोग भोगनेके लिये पापपुण्य रहते हैं। यह निश्चय समझिए।

अब विचार यह आता है कि जब फलभोगके विना पापपुण्य छूटते ही नहीं हैं तब उनसे भागना व्यर्थ है। भाग कर भी कहां जाना है? परमेश्वरके ऋत और सत्य नियम संपूर्ण संसारभरमें एक जैसे निःपक्षपातसे अपना कार्य कर रहे हैं। उनको धोखा देकर मैं कहीं भी जा नहीं सकता। ऐसा निश्चय होते ही उपासक अपना दिल खोल कर बताता है कि "हे ईश्वर! ये ये ··· पाप मैंने किये हैं, इनका दंड भोगनेके लिये मैं तैयार हूं। मैं फिर इस प्रकारके पाप नहीं करूंगा। परंतु इनसे भागना भी मैं नहीं चाहता। मैंनें पाप किया है इस लिये मुझे दंड लेना और भोगना चाहिए। इस कारण मैं दंड भोगनेके लिये तैयार हूं।"

स्वयं अपना न्याय करना कितना कठिन है? इसका विचार पाठक कर सकते हैं। दुराचार करके उसको छिपाना मानवी प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्तिको वकील लोक बढा रहे हैं। इससे पता लगेगा कि वकीलोंका मन अदालतके कार्यसे कैसा पतित हो सकता है। दुराचारको छिपाना सर्वथा बुरा है। दुराचार होने पर उसको स्वयं मानना और उसके दंड भोगनेके लिये उद्यत होना धार्मिक भाव है। इस भावको बढाना चाहिए। अस्तु। यह धार्मिक अवस्था मनमें उत्पन्न करनेका कार्य अघमर्षणके मंत्र कर रहे

हैं । इस प्रकारके विचारसे प्रलयके मंत्रोंका 'अघमर्षण'के साथ संबंध स्पष्ट प्रतीत होगा । अब अघमर्षणके मंत्रोंके विशेष शब्दोंका भाव देखिए—

(१) ऋतं सत्यं च ।—'ऋत' अर्थात् (right) ठीक, शुद्ध, उचित, सरलतासे व्यवहार, न्यायानुसार व्यवहार, सीधापन । 'सत्य' अर्थात् (sooth) यथार्थ, सत्य, सच । ये जगत्के अंदर चलनेवाले (eternal laws) दो अटल नियम हैं । कोई उनका उल्लंघन नहीं कर सकता । मनुष्यके आचरणमें इन नियमोंका पालन होनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है । न्यायानुकूल सत्य निष्ठापूर्वक व्यवहार करनेसे मनुष्य उच्च होता है ।

(२) तपः—कष्ट सहन करनेकी शक्ति । सत्कार्य करनेके समय जो कष्ट भोगने पडते हैं, उनको आनंदसे सहन करनेका धर्म सब महात्माओंमें होता है । तपके अन्य अर्थ–(Meditation) मनन, ध्यान, (moral virtue) नीतिधर्म, (merit) गुण सद्गुण । कष्ट सहन करनेकी शक्तिके विना किसी मनुष्यकी उन्नति नहीं हो सकती ।

(३) रात्री—रममाण होनेकी शांतिकी अवस्था ।

(४) समुद्रः—(सं+उत्+द्रुः)=(सं) एक होकर (उत्) उत्कर्षके लिये (द्रुः) प्रगति करना । प्रलय कालके पश्चात् जिस समय नवीन सृष्टि उत्पन्न होनेका समय आजाता है, उस समय प्रकृतिके परमाणुओंमें एक होकर जगत् बननेके लिये बडी भारी गति होती है । जिसका परिणाम परमाणुओंके विविध संघ बन कर सृष्टि निर्माणारम्भ है । मनुष्योंकी उन्नतिके लिये भी यही नियम है । मनुष्योंको एक हो कर, एक विचारसे संघ बनाकर उन्नतिके लिये बडी हलचल करनी चाहिए । देखिए वेदकी आज्ञा—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

ऋ. १०।१९१।२

"(१) मिलकर संघ बनाईए, (२) उत्तम वक्तृत्व कीजिए, (३) अपने मन सुसंस्कृत कीजिए और (४) पूर्व ज्ञानी व्यवहारकर्ताओंके

समान अपने कर्तव्यका भाग कीजिए।" यही भाव 'समुद्र' शब्दसे व्यक्त होता है। 'सं-उत्-द्र'-अर्थात् मिलकर उन्नतिके लिये प्रयत्न करना। पाठकोंको चाहिए कि वे सोचें कि वेदनें एक शब्दसे ही कितना उत्तम उपदेश दिया है।

(५) **अर्णवः**—(Being agitated, being in motion) हलचलमें रहना, क्षोभकी अवस्थामें रहना। हलचल ही अर्णवका स्वरूप है। पूर्वोक्त समुद्र शब्दका यह विशेषण है। पूर्वोक्त उन्नतिकी हलचल किस प्रकार करना चाहिए, इसकी सूचना यहां मिलती है। प्रकृतिके समुद्रमें जगत् बननेके समय जो महान् हलचल मची थी उसके स्वरूपका वर्णन यह शब्द कर रहा है। दोनों स्थानमें उन्नतिकी हलचल समान ही है। मनुष्य भी हलचल करनेके विना उन्नति प्राप्त नहीं कर सकते।

(६) **संवत्सरः**—(संवसन्ति इति)—जिसमें सब वसते हैं। सबका निवास जिसमें होता है। जिसमें सबको रहने विचरनेके लिये स्थान प्राप्त होता है।

(७) **अ-हः**—(न जहाति)—जो किसीको छोडता नहीं। जो अवश्य सबके पीछे लगता ही है।

(८) **वशी**—सबको वशमें रखनेवाला ईश्वर। जगतके संपूर्ण पदार्थोंको वशमें रखता है। परमेश्वरकी इतनी शक्ति है कि वह महान्‌से महान् लोकलोकांतरोंको सब प्रकारसे अपने आधीन रखता है। उपासकको चाहिए कि वह अपने शरीरकी सब इंद्रियों और अवयवोंको अपने आधीन रखे। इंद्रिय-संयम और इंद्रिय-दमन करके मन आदि अंतरिंद्रियोंको भी पूर्णतया स्वाधीन रखे। परमात्माके समान यह जीवात्मा भी अपने शरीरके व्यापारोंमें वशी हो सकता है। स्वराष्ट्र आदिके व्यवहारोंको भी अपने वशमें रख सकता है। मनुष्यको चाहिए कि वह अपने आपको शरीर, इंद्रिय, अवयव, मन, बुद्धि आदिका स्वामी समझे और उनको अपने आधीन रखे। कभी इंद्रियादिकोंके आधीन अथवा उनका गुलाम न बने।

(९) धाता—सबकी धारणा करनेवाला तथा सबको बनानेवाला ईश्वर है। उपासकको भी चाहिए कि वह अपने अंदर धारणा शक्ति बढावे तथा (creative faculty) उत्पादक और विधायक सद्बुद्धि की वृद्धि करे।

अन्य शब्दोंके विषयमें पाठक मनन कर सकते हैं। इस विचारसे पता लग सकता है कि वेदके शब्द मनुष्यको दैनिक व्यवहारका किस प्रकार बोध दे रहे हैं। वेदके शब्दोंका मुख्य उद्देश यही है कि मनुष्यको अपनी उन्नतिका मार्ग ठीक प्रकार सूचित करें। विचारी पाठकोंको चाहिए कि वे इसप्रकार बोध लेनेका यत्न करें और दोषोंको दूर करके गुणोंकी अपने अंदर धारणा करें।

मनसा परिक्रमण।

संध्याके मंत्रोंमें 'मनसा परिक्रमा' के मंत्र बहुत कठिन हैं। कई वार और कई वर्ष मनन करने पर भी उनका ठीक ठीक अर्थ अबतक मेरे ध्यानमें नहीं आया है। इतना निःसंदेह प्रतीत होता है कि इन मंत्रोंमें कुछ विशेष उपदेशका कथन किया है। परंतु उस उपदेशका आविष्कार करना बडा कठिन है। सब शब्दोंके, व्याकरणादि साधनपूर्वक, अर्थ का ज्ञान होकर, वेदके अन्य स्थानोंके उल्लेखोंके साथ उसकी संगति लगा कर जैसा बोध होता है, उस प्रकारका बोध इन मंत्रोंसे अबतक नहीं हुआ। इस लिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि जो साधन अर्थ करनेके लिये यहां एकत्रित किये गये हैं, उन पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार करके अपने विचार प्रकट करें, जिससे अर्थका निश्चय होनेमें सुगमता हो सकेगी।

'मनसा परिक्रमा'के मंत्रोंका विचार करनेसे पूर्व उन मंत्रोंमें जो जो मुख्य पदार्थ कहे हैं उनका निश्चित अर्थ समझना उचित है। इस अर्थका निश्चय करनेके लिये निम्न कोष्टक मैंने बनाये हैं। वेदमें दिशाओंके संबंधमें जो जो उल्लेख हैं, उन सब लेखोंको इकट्ठा करनेसे, और उन सबका मनन करनेसे 'मनसा परिक्रमा'के मंत्रोंपर विशेष प्रकाश पडना संभव है। इस लिये निम्न कोष्टकोंका विचार पाठक अवश्य करें।—

दिशा कोष्टक ॥ १ ॥

दिशाः	अधिपतिः	रक्षिता	इषवः
प्राची	अग्निः	असितः	आदित्याः
दक्षिणा	इंद्रः	तिरश्चिराजी	पितरः
प्रतीची	वरुणः	पृदाकुः	अन्नं
उदीची	सोमः	स्वजः	अशनिः
ध्रुवा	विष्णुः	कल्माषग्रीवः	वीरुधः
ऊर्ध्वा	बृहस्पतिः	श्वित्रः	वर्ष

अथर्व. ३।२७।१-६।

पूर्वोक्त मनसा परिक्रमाके मंत्रोंको देखनेसे इस कोष्टककी सिद्धि हो सकती है। अब वेदमें अन्य स्थानोंमें आये हुए दिशा विषयक उल्लेखोंका विचार करना है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

ये ऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवा-
स्तेषां वो अग्निरिषवः ॥ ते नो मृडत ते नो-
ऽधिब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥
ये ऽस्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम
देवास्तेषां वः काम इषवः ॥ ते नो० ॥ २ ॥
ये ऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवा-
स्तेषां व आप इषवः ॥ ते नो० ॥ ३ ॥
ये ऽस्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवा-
स्तेषां वो वात इषवः ॥ ते नो० ॥ ४ ॥
ये ऽस्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवा-

स्तेषां व ओषधीरिषवः ॥ ते नो० ॥ ५ ॥
येऽस्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवा-
स्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः ॥ ते नो० ॥ ६ ॥

अथर्व. ३।२६।१–६

'प्राची आदि दिशाओंमें हेति आदि देव हैं और अग्नि आदि इषु हैं। ये सब (नः) हम सबको (मृडत) सुखी करें, वे हमसबको (अधि-ब्रूत) उपदेश करें, उन सबको हमारा नमस्कार है, उनके लिये हमारा स्वार्थत्याग है।' यह इन मंत्रोंका भावार्थ है। अब इनका निम्न कोष्टक बनता है—

दिशा कोष्टक ॥ २ ॥

दिशाः	देवाः	इषवः
प्राची	हेतयः	अग्निः
दक्षिणा	अविष्यवः	कामः
प्रतीची	वैराजाः	आपः
उदीची	प्रविध्यन्तः	वातः
ध्रुवा	निलिपाः	ओषधीः
ऊर्ध्वा	अवस्वन्तः	बृहस्पतिः

अथर्व. ३।२६।१–६।

पहिले कोष्टककी इस द्वितीय कोष्टकके साथ तुलना कीजिए। पहिले कोष्टकमें 'प्राची और ऊर्ध्वा' के 'अग्नि और बृहस्पति' अधिपति हैं, वेही यहां 'इषु' बने हैं। 'ध्रुवा' दिशाके इषु पहिले कोष्टकमें 'वीरुधः' हैं और यहां 'ओषधि' हैं। इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। 'प्रतीची'

दिशाका इषु दोनों कोष्टकोंमें 'अन्नं और आपः' । खान पानका परस्पर निकट संबंध है । 'दक्षिण' दिशाके इषु दोनों कोष्टकोंमें 'पितरः और कामः' हैं । काम के उपभोगसेही पितृत्व प्राप्त हो सकता है । 'उदीची' दिशाके इषु 'वात और अशनि' हैं । अशनिका अर्थ विद्युत है और उसका स्थान मध्यस्थान अर्थात् वायुका स्थान माना गया है । इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि केवल 'प्राची और ऊर्ध्वा' दिशाओंके इषु बदले हैं, इतनाही नहीं परन्तु पहिले कोष्टकमें जो अधिपति थे वेही दूसरेमें इषु बने हैं । अन्य दिशाओंके इषु समान अथवा परस्पर संबंध रखनेवाले हैं। अथर्व वेदके तीसरे कांडके २६ और २७ सूक्तोंके कथनमें इतना भेद है । इस भेदसे स्पष्ट होता है कि इषु, अधिपति आदि शब्द वास्तविक नहीं हैं परंतु आलंकारिक हैं । अब निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथंतरं साम
त्रिवृत्स्तोमा वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥
दक्षिणामारोह त्रिष्टुप्त्वावतु बृहत्साम पंच-
दशस्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥ ११ ॥
प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपं साम
सप्तदशस्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥ १२ ॥
उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वावतु वैराजं सामै-
-कविंशस्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥ १३ ॥
ऊर्ध्वामारोह पंक्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी
त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू
वर्चो द्रविणम् ॥ १४ ॥

यजु. अ. १०.

'प्राची आदि दिशाओंमें (ब्रह्म द्रविणं) ज्ञान आदि धन है । इन मंत्रोंका स्पष्टीकरण निम्न कोष्टकसे हो सकता है—

दिशा कोष्टक ॥ ३ ॥ (यजु. १०।१०-१४)

दिशाः	रक्षक छंदः	साम	स्तोमः	ऋतुः	द्रविणं धनं
प्राची	गायत्री	रथंतरं	त्रिवृत्	वसन्तः	ब्रह्म
दक्षिणा	त्रिष्टुप्	बृहत्	पंचदशः	ग्रीष्मः	क्षत्रं
प्रतीची	जगती	वैरूपं	सप्तदशः	वर्षा	विट्
उदीची	अनुष्टुप	वैराजं	एकविंशः	शरद्	फलं
{ ध्रुवा ऊर्ध्वा }	पंक्तिः	{ शाक्वरं रैवतं }	{ त्रिणव त्रय-स्त्रिंशौ }	हेमन्तः शिशिरः	वर्चः

इस कोष्टकमें दिशाओंके धनोंका पाठक अवश्य अवलोकन करें (१) प्राची दिशाका धन (ब्रह्म knowledge) ज्ञान है। (२) दक्षिण दिशाका धन (क्षत्र valour) शौर्य है। (३) प्रतीची दिशाका धन (विश्* enter-prise) उत्साहसे पुरुषार्थ करनेकी शक्ति है। (४) उदीची दिशाका धन (फल fruit, result, profit) फल परिणाम लाभ आदि है। (५) ध्रुवा और ऊर्ध्व दिशाका धन (वर्चः vigour, power, energy) शक्ति, बल आदि है। ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ प्रयत्न, लाभ और वीर्यतेज ये उक्त दिशाओंके धन हैं। उसकी तुलना प्रथम कोष्टकके साथ करनेसे अर्थका बहुत गौरव प्रतीत होगा। पाठकोंनें यहां जान लिया होगा कि उक्त गुण विशेष वर्णोंके होनेसे उक्त दिशाओंका

---

* विश् to enter, enter into, undertake, be absorbed into, begin, attend to; प्रवेश करना, पुरुषार्थका प्रारंभ करना, तल्लीन होना, आरंभ करना।

संबंध उक्त वर्णोंके साथ भी है। ब्राह्मणोंका ज्ञान, क्षत्रियोंका शौर्य, वैश्योंका पुरुषार्थ, शूद्रोंके हुनरका लाभ और सब जनताका वीर्यतेज सब राष्ट्रके उद्धारका हेतु है। तथा प्रत्येक व्यक्तिमें ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ, फल-प्राप्ति तक प्रयत्न करनेका गुण और वीर्यतेज चाहिए। इस प्रकार व्यक्तिमें और राष्ट्रमें उक्त गुणोंका संबंध है। इस संबंधको स्मरण रखते हुए पाठक निम्न मंत्र देखें—

प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि
दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेहि
उत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् ॥
ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूक्यं धेहि
दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यम्० ॥ ८ ॥ अथर्व. ४।१४।

'प्राची दिशामें (अजस्य) अजन्मा जीवका सिर रखो तथा अन्य दिशा-ओंमें अन्य अवयव रखो।' इन मंत्रोंमें अवयवोंका दिशाओंके साथ संबंध बताया है। निम्न कोष्टकसे इसका भेद स्पष्ट होगा—

दिशा कोष्टक ॥ ४ ॥ (अथर्व. ४।१४।७-८)

प्राची	शिरः	मस्तक	Head
दक्षिणा	दक्षिणं पार्श्वं	दहनी बगल	Right side
प्रतीची	भसदं	गुप्त भाग	Private part
उदीची	उत्तरं पार्श्वं	बायी बगल	Left side
ध्रुवा	पाजस्यं	पेट	Belly
ऊर्ध्वा	आनूक्यं	पीठकी हड्डी	Spine

इस कोष्टकके साथ पूर्वोक्त तीसरे कोष्टककी तुलना कीजिए। ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ, और फलका संबंध सिर, बाहू, मध्यभाग और निम्न भागके साथ यहां लिखा है। ज्ञान, शौर्य पुरुषार्थका संबंध गुणरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें है और वर्ण रूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें अर्थात् राष्ट्र-पुरुषके अवयवोंमें है। इस प्रकार वर्णोंका संबंध दिशाओंके साथ स्पष्ट है। यह संबंध ध्यानमें धर कर विचार करते हुए आप निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीं प्राचीं प्रदिशमारभेथामेतं लोकं
श्रद्धधानाः सचन्ते ॥ यद्वां पक्वं परिविष्ट-
मग्नौ तस्य गुप्तये दंपती संश्रयेथाम् ॥ ७ ॥
दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथा-
मभि पात्रमेतत् ॥ तस्मिन्वां यमः पितृभिः
संविदानः पक्काय शर्म बहुलं नियच्छात् ॥ ८ ॥
प्रतीचीं दिशामियमिद्वरं यस्यां सोमो
अधिपा मृडिता च ॥ तस्यां श्रयेथां सुकृतः
सचेथामधा पक्कान् मिथुना संभवाथः ॥ ९ ॥
उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद्दिशामुदीचीं कृणवन्
नो अग्रम् ॥ पांक्तं छंदः पुरुषो बभूव
विश्वैर्विश्वांगैः सह संभवेम ॥ १० ॥
ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य
उत मह्यमस्तु ॥ सा नो देव्यदिते विश्ववार
इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्कम् ॥ ११ ॥

अथर्व. १२।३.

(१) (प्राचीं) पूर्व दिशा प्रगतिकी दिशा है, इसमें (आरभेथां) उत्साहके साथ पुरुषार्थका आरंभ कीजिए (एतं लोकं) इस उन्नतिके लोकमें (श्रद्धधानाः) श्रद्धा धारण करनेवाले ही पहुंचते हैं । जो (वां) आप दोनोंका अग्निमें प्रविष्ट होकर (पक्वं) पका हुआ अन्न होगा, (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षाके लिये (दंपती) स्त्रीपुरुष (संश्रयेथां) प्रयत्न करें ॥ (२) इस दक्षिण दिशामें जब आप (अभि नक्षमाणौ) सब प्रकारसे प्रगति करते हुए इस (पा—त्रं) योग्य अथवा संरक्षक कर्मका (अभि पर्यावर्तेथां) सब प्रकारसे वारंवार अनुष्ठान करेंगे, तब आपकी (पक्काय) परिपक्कताके लिये (पितृभिः) रक्षकोंके साथ (संविदानः यमः) ज्ञानी नियामक (बहुलं शर्म) बहुत सुख देगा ॥ (३) (प्रतीचीं) पश्चिम दिशा यह सचमुच (वरं) श्रेष्ठ दिशा है, जिसमें (सोमः) विद्वान और शांत अधिपति और (मृडिता) सुख देनेवाला है । इस दिशाका आश्रय कीजिए, सुकृत करके परिपक्कताको (सचेथां) प्राप्त कीजिए । और (मि-

थुना) स्त्रीपुरुष मिलकर (सं भवाथः) सुसंतान उत्पन्न कीजिए ॥ (४) उत्तर दिशा (प्र-जया) विजयशाली राष्ट्रीय दिशा है, इस लिये हम सबको यह उत्तर दिशा (अग्रं) अग्र भागमें ले जावे । (पांक्तं) पांच वर्णों -राष्ट्रके विभागोंका (छंदः) छंद ही यह पुरुष होता है । इन सब अंगोंके साथ हम सब (सं भवेम) मिलकर रहेंगे ॥ (५) यह ध्रुव दिशा (वि-राट्) बडी भारी है । इसके लिये नमन है । यह मेरे लिये तथा बाल-बच्चोंके लिये (शिवा) कल्याणकारी होवे । हे (अ-दिते देवि) हे स्वतंत्रता देवि ! (विश्व-वारे) सब आपत्तियोंका निवारण करनेवाली देवी ! तूं (गोपा) हम सबका संरक्षण करती हुई, हमारी परिपक्वताको सुरक्षित रखो ॥

इन मंत्रोंमें दिशाओंके विषयमें कई विशेष बातें बताई हैं। इनके सूचक मुख्य शब्दोंका निम्न कोष्टक बनता है ।

दिशा कोष्टक ॥ ५ ॥ (अथर्व. १२।३।७-११)

दिशा	कर्म	साधन	साधक	क्रिया
प्राची	आरंभ	श्रद्दधानः	दंपती	संश्रयेथां
दक्षिणा	पर्यावर्तनं	नक्षमाणः	यमःसंविदानः	नियच्छात्
प्रतीची	आश्रयः	सुकृतः	मिथुनः	संभवाथः
उदीची	प्र-जयः	पांक्तं छंदः	पुरुषः	सह संभवेम
ध्रुवा	वि-राट	शिवा	विश्ववारा अदितिः	रक्ष

इस कोष्टकसे साधारणरूपमें पता लग जायगा कि दिशाओंके उक्त नाम किस बातके सूचक हैं । और इन सूचक नामोंमें कैसा उत्तम तत्वज्ञान भरा है । इन मंत्रोंको देखनेसे निम्न बातोंका पता लगता है—

(१) प्राची दिशा—(प्र-अंच् to advance, promote, go in front) आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना, यह मूल अर्थ 'प्रांच्' धातुका है, जिससे 'प्राची' शब्द बनता है। 'प्राची दिशा' का अर्थ (direction of advancement and progress) बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, वृद्धिका मार्ग।

उन्नतिके लिये विविध कर्म प्रारंभ करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है। पुरुषार्थोंका प्रारंभ करनेके विना उन्नतिकी आशा करना व्यर्थ है। उत्साहसे पुरुषार्थ करनेके लिये श्रद्धा चाहिए। श्रद्धाके विना उत्साह प्राप्त नहीं हो सकता। जगत्में स्त्रीपुरुष मिलकर ही विविध पुरुषार्थोंका साधन करते हैं। उनके परस्पर मिलकर रहनेसे ही संसारमें सब भोगोंकी परिपक्कता और (गुप्ति) संरक्षण हो सकता है। इस प्रकार प्राची दिशासे बोध मिलता है।

(२) दक्षिण दिशा—'दक्षिण' शब्दका अर्थ (Right, able, clever, straight forward, candid, sincere, dexterous) दक्ष, ठीक, योग्य, प्रबुद्ध, सीधा, सच्चा है। 'दक्षिण दिशा' शब्दोंका मूल अर्थ (right direction) सीधा मार्ग, सच्चा मार्ग ऐसा ही है। पश्चात् इसका अर्थ 'सीधे तरफ की दिशा' हो गया है।

उन्नतिके लिये सीधे और सच्चे मार्गसे चलना चाहिए। और (नक्ष-माण) गति अथवा हलचल किंवा प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा सिद्धि होना असंभव है। एक वार प्रयत्न करनेसे सिद्धि न हुई तो वारंवार पुरु-षार्थ करना आवश्यक है, इसी की सूचना '(पर्यावर्तेथां, परि-आ-वर्तेथां) वारंवार प्रयत्न कीजिए' इन शब्दों द्वारा मंत्रमें दी है। 'यम' शब्द निय-मोंका सूचक, 'पितृ' शब्द जननशक्ति और संरक्षणका सूचक, तथा 'संवि-दान' शब्द ज्ञानका सूचक है। नियम, स्वसंरक्षण और ज्ञानसेही शर्म अर्थात् सुख होता है। यह दक्षिण दिशाके मंत्रसे बोध मिलता है।

(३) प्रतीची दिशा—प्रत्यंच् (to turn inward) अंदर आना, अंतर्मुख होना। प्रतीची दिक् (direction of repose) शांतिकी दिशा,

अंदर मूल स्थानपर आनेकी दिशा, स्वस्थानपर आनेका मार्ग, अंतर्मुख होनेका मार्ग, यह इस शब्दका मूल अर्थ है। 'पूर्व दिशा'को आगे बढनेका मार्ग कहा है और पश्चिम दिशाको फिर वापस होकर अपने मूल स्थानपर आकर विश्राम लेनेकी दिशा कहा है—

प्रतीची	प्राची
(प्रति–अंच्)	(प्र–अंच्)
turning inward	going forward
Rest, repose	Pro-gress
प्रति–गति	प्र–गति
प्रति–गमन	प्र–गमन
नि–वृत्ति	प्र–वृत्ति

दिशाओंके नामोंसे जो भाव व्यक्त होते हैं, उनका पता इस कोष्टकसे लग सकता है। वैदिक शब्दोंका इस प्रकार महत्व देखना चाहिए।

निवृत्ति, विश्रांति अथवा स्व–स्थताका स्थान ही श्रेष्ठ (वरं) होता है। शांतिसे भिन्न और श्रेष्ठता क्या होगी? सोम ही शांतताकी देवता है। सूर्यके प्रखरतर प्रचंड किरणोंके तापसे संतप्त मनुष्य चंद्र (सोम) के शीत प्रकाशसे शांत, संतुष्ट और आनंदित होता है। सुकृत अर्थात् धार्मिक पुण्य कर्मोंका मार्ग ही इस शांतिको प्राप्त कर सकता है, इत्यादि भाव इस मंत्रसे ज्ञात होते हैं।

(४) उत्तर दिशा—(उत्–तर) अधिक उच्च तर, अधिक श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेका मार्ग (direction of betterment) ऐसा इसका मूल अर्थ है। मनुष्योंकी उच्च तर अवस्था होनेके लिये राष्ट्रकी कल्पना कारण होती है, क्योंकी—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे ॥
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥

अथर्व. १९।४१।१.

'लोकोंका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले ज्ञानी ऋषिमुनियोंने तप किया और दक्षतासे व्रत किया। उससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुआ, इस लिये सब देव उस राष्ट्रीयताके सन्मुख नम्रता धारण करें ।' राष्ट्रीयताके साथ लोककल्याणका भाव इस प्रकार वेदने वर्णन किया है। लोककल्याण ही लोकोंकी उच्च तर अवस्था है। राष्ट्रीय भावनाके अंदर (नः अग्रं कृण्वन्) 'हम सबको अग्र भागमें होनेके लिये प्रयत्न' करना आवश्यक है। राष्ट्र (पांक्त five-fold) पांच विभागोंमें विभक्त है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, अथवा ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर और साधारण जन मिल कर राष्ट्रके पांच अवयव होते हैं। इन पांच प्रकारके जनोंका कल्याण करनेकी (छंद liking) प्रबल इच्छा जिसमें होती है, वही सच्चा 'पुरुष' कहा जा सकता है। पुरुष उसको कहते हैं कि जो (पुरि) नगरीमें (वसति) निवास करता है। नागरिक जन जो 'लोककल्याण' करता है, वही सच्चा पुरुष है। सब अंगोंसे उसकी पूर्णता होती है और उन्नतिके लिये (सं भवेम become united) सब मिल कर एकत्रित होनेकी आवश्यकता है। यह बोध उत्तर दिशाके मंत्रके शब्दोंसे टपकता है।

(५) ध्रुवा दिक्—स्थिरता (stability)का धर्म यहां बताना है। मनुष्यके व्यवहारोंमें चंचलता (fickleness) ठीक नहीं है। स्थिरता, दृढता, निश्चितता, उन्नतिकी साधक है। सबका (शिवा) कल्याण इस गुणसे होता है। स्थिरताका मार्ग (direction of stability) योग मार्ग है जिसमें चंचलताको दूर करके स्थिरताकी प्राप्ति की जाती है। इससे सबका हित होता है। यही (अ-दिति) अविनाशकी देवता अथवा स्वतंत्रताकी देवता है। स्थिरताके विना स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं हो सकती। (गो-पा) इंद्रियोंका संरक्षण अर्थात् संयम इस मार्गमें अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार ध्रुव दिशाके मंत्रोंसे बोध प्राप्त होता है।

मंत्रोंकी शब्दयोजना कितनी अर्थपूर्ण है, इसका विचार पाठक यहां कर सकते हैं। इन मंत्रोंके साथ अपने संध्याके मंत्र मिला कर पढना चाहिए जिससे बहुत अर्थका लाभ हो सकता है। अस्तु। दिशा विषयक

उल्लेख ऋग्वेदमें नहीं है । इस लिये अब इस सब विवरणका एकीकरण करना चाहिए । उसके पूर्व निम्न मंत्र देखिए ।

> प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र
> आदित्यायेषुमते ॥ एतं परिदद्मस्तं नो गोपायता-
> मस्माकमैतोः ॥ दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा
> मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ ५५ ॥
> दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये
> रक्षित्रे यमायेषुमते ॥ एतं० ॥ ५६ ॥ प्रतीच्यै त्वा दिशे
> वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते ॥
> एतं० ॥ ५७ ॥ उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये
> स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै ॥ एतं० ॥ ५८ ॥
> ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय
> रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः ॥ एतं ॥ ५९ ॥
> ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय
> रक्षित्रे वर्षायेषुमते ॥ एतं ॥ ६० ॥ अथर्व. १२।३.

ये मंत्र और संध्याके मंत्र प्रायः समान शब्दोंसे बने हैं । इस लिये संध्याके मंत्रोंका अर्थ समझनेसे इनका भी अर्थ समझा जा सकता है । "प्राची दिशा, अग्नि अधिपति, असित रक्षिता और इषुमान् आदित्यके लिये (एतं) यह दान (परि दद्मः) देते हैं । अस्माकं (आ-एतोः) हमारे दुष्ट भावोंसे हम सबका (नः गोपायतां) संरक्षण करें । (अत्र) यहां (नः) हम सबको (दिष्टं) अच्छी धर्मकी प्रेरणा (जरसे) वृद्ध अवस्था तक (नि नेषत्) ले जावे । (जरा) वृद्ध अवस्था मृत्युको (नः मृत्यवे परि ददातु) हम सबको मृत्युके प्रति देवे । (अथ) और (पक्वेन) परिपक्वताके साथ (सं भवेम) संभूति अर्थात् उन्नतिको प्राप्त हो जावें ।" यह प्रथम मंत्रका अर्थ है । शेष भाव सुगम है ।

इन मंत्रोंमें (१) दान, (२) स्वसंरक्षण, (३) दुष्टभावको दूर करना, (४) धर्मकी प्रेरणाके साथ पूर्ण वृद्ध अवस्थाका अनुभव लेनेके पश्चात्

अर्थात् दीर्घ आयुकी समाप्तिके पश्चात् मरनेकी कल्पना, और (५) परिपक्क (बुद्धिके सज्जनों) के साथ अर्थात् सत्संगमें रहनेका उपदेश है ।

प्रारंभसे यहां तक दिशा विषयक जो कोष्टक और मंत्र दिये हैं उन सबका एकीकरण पूर्वक विचार करनेसे मनसा परिक्रमाके मंत्रोंका बोध होना संभव है । इस लिये उसका मनन करेंगे । मनसा परिक्रमाके मंत्रोंमें अग्नि आदि शब्दोंसे परमात्माका बोध लेकर सब मंत्र परमात्मापर घटानेका सांप्रदाय सुप्रसिद्ध है । परंतु इस विषयमें निम्न बातोंका अवश्य विचार होना चाहिए—

> प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिताऽऽदित्या
> इषवः ॥ तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो
> नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ॥ योऽस्मान् द्वेष्टि यं
> वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ अथर्व ३।२७।१

इस मंत्रका अब विचार करना है । इसका विचार होनेसे अन्य सब मंत्रोंका विचार हो सकता है । पूर्व स्थलमें, जहां दिशाओंका द्वितीय कोष्टक दिया है, वहां बताया है कि अधिपति, इषु, रक्षिता आदि शब्द आलंकारिक हैं, इस लिये इनका अर्थ काव्य कल्पनाके अनुसार लेना चाहिए ।

(१) अधिपति, रक्षिता, इषवः आदि शब्द आलंकारिक हैं क्यों कि वर्षा, वीरुधः आदिकोंको भी बाण कहा है । वस्तुतः ये बाण नहीं हैं । इस कारण कविकी आलंकारिक दृष्टिसे इनका अर्थ लेना उचित है ।

(२) मंत्रके प्रथम पादमें अधिपति, रक्षिता ये शब्द एक वचनमें हैं, परंतु द्वितीय चरणमें इन ही शब्दोंका बहुवचन लिखा है । एक वचनका शब्द परमेश्वर पर माना जा सकता है परंतु अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः' शब्द बहुवचन होनेके कारण परमेश्वर पर नहीं माने जा सकते । आदरार्थक बहुवचन माननेके पक्षमें पूर्वचरणमें एक वचन आया है उसकी निरर्थकता होती है । वेदमें किसी स्थान पर एक मंत्रमें परमेश्वर वाचक शब्दोंका एक वचन और बहुवचन आया नहीं है । इस लिये यहां इन शब्दोंके अर्थ केवल परमेश्वर पर होनेमें शंका है ।

(३) प्रत्येक दिशाका अधिपति रक्षिता और इषु भिन्न हैं। यदि ये परमेश्वर पर शब्द हैं तो भिन्नताका कोई तात्पर्य नहीं निकल सकता।

(४) तृतीय चरणमें 'जो हम सबका द्वेष करता है और जिसका हम सब द्वेष करते हैं उसको (वः जम्भे) आप सबके एक जबडेमें हम सब देते हैं।' इस आशयके शब्द आगये हैं। यह मंत्रका भाग केवल सामाजिक स्वरूप पर कहा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। दुष्टको दण्ड देनेका इसमें विषय है। और दण्ड देनेवाला अकेला नहीं है परंतु (वः) अनेक हैं। '(वः जम्भे) आप अनेकोंके एक जबडेमें हम सब मिलकर उस दुष्टको देते हैं' आप जो चाहें उसको दंड दीजिए। दंड देनेका अधिकार हम अपने हाथोंमें नहीं लेते (we do not take the law into our own hands) आप सबकोही दंड देनेका अधिकार है। यह आशय उक्त मंत्र भागमें स्पष्ट है। इसमें न्याय व्यवस्थाकी बातें स्पष्टतासे लिखीं हैं—

(अ) अनेक सज्जनोंको मिलकर न्याय करना चाहिए।

(आ) किसीको उचित नहीं कि वह स्वयंही मनमाना दंड दुष्टको देवे। वह अधिकार न्याय सभाका है।

(इ) बहुपक्षसे द्वेप नहीं करना चाहिये। द्वेष करना बुरा है। स्वसंमति प्रकट करना द्वेप नहीं है।

(ई) बहुपक्षको भी उचित नहीं कि वे अपनी संमतिसे किसीको दंड देवें। बहुपक्ष और अल्प पक्षके मतभेद होने पर न्याय-सभा द्वारा योग्यायोग्यका निश्चय करना चाहिए। और न्यायसभाका निश्चय सबको मानना चाहिए।

इत्यादि बातें उक्त मंत्रभागसे स्पष्ट सिद्ध होती हैं। यहां परमेश्वरके जबडेमें देनेकी कल्पना नहीं प्रतीत होती। अब यहां 'जंभ' शब्दका अर्थ देखना उचित है—

जंभ—इस शब्दका अर्थ A tooth, tusk, mouth, jaw, thunderbolt, दांत, हाथीका दांत, मुख, जबडा, वज्र, दंड होता है। मंत्रमें 'वः जंभे' अर्थात् 'अनेकोंका एक जबडा' कहा है। प्रत्येक

प्राणीके लिये एक जबडा हुआ करता है। परंतु यहां अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा कहा है। वास्तविक रीतिसे अनेक मनुष्योंका एक जबडा नहीं हो सकता, परंतु यहां कहा है, इस लिये यह जबडा वास्तविक नहीं है, केवल काल्पनिक है। निम्न कोष्टकसे व्यक्तिगत और सामाजिक जबडेकी कल्पना आ सकती है—

व्यक्तिका जबडा	समाजका जबडा
जंभ	न्यायालय
मुख	मुख्य
ज्ञानेंद्रिय–पंचक	ज्ञानीजन–पंच
दांत–द्विज	त्रैवर्णिक–द्विज
दंतपंक्ति	द्विज–सभा
चर्वण, चर्वितचर्वण	विषय–चर्चा
अन्न–चर्वण	प्रमाण–विचार

सिंह व्याघ्र आदि हिंस्र पशु अपने शत्रुको अपने जबडेमें रखकर खाते हैं। शत्रुको अपने जबडेमें रखनेकी कल्पना नीच प्राणियोंमें है। क्रोधी मनुष्य पागल बनकर अपने शत्रुको काटने दौडता है। परंतु विचारी मनुष्य इस पशुवृत्तिको दबाकर अपने आपको समाजका एक अवयव समझकर, अपने शत्रुको भी समाजका एक अवयव मानता है; इस कारण वह शत्रुको दंड देनेके लिये स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ, न्यायसभाकी शरण लेता है, क्यों कि वही 'समाजका जबडा' है। इस न्यायालयमें द्विजोंकी सभा लगती है और वह अनुकूल प्रतिकूल बातोंका मनन वारंवार करके दुष्टको दंड देती है और सज्जनको स्वातंत्र्य अर्पण करती है। इस **समाजके जबडेका**–अर्थात् न्यायसभाका–भाव 'जंभ' शब्दसे लेना उचित है। यही अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा होता है।

तं वो जंभे दध्मः ।

(तं) उस दुष्टको हम सब (वः) आप अनेकोंके (जंभे) एक जबडेमें–अर्थात् न्यायसभामें–(दध्मः) धारण करते हैं। अर्थात् आपके आधीन करते हैं। न्यायसभाकी शिरोधार्यता यहां बताई गई है।

यहांका 'वः' शब्द पूर्वोक्त 'अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः' इन शब्दोंको सूचित करता है। समाजके अथवा राष्ट्रके अधिपति और रक्षक(rulers and protectors) 'वः' शब्दसे जाने जाते हैं। सबका द्वेष करनेवाले दुष्टको इन पंचोंके आधीन करना चाहिए, यह मंत्रका स्पष्ट आशय है। इसीलिये 'अधिपति' आदि शब्दोंका बहुवचन मंत्रमें आगया है और इसी कारण वह बहुवचन योग्य और अर्थके अनुकूल है।

संध्या करनेके समय इस प्रकार राष्ट्रके योग्य अधिपति और संरक्षकोंको नमन करके, द्वेष करनेवाले शत्रुको उनके आधीन करनेका भाव मनमें धारण करना चाहिए। इससे शत्रुको स्वयं दंड देनेकी और न्यायको अपने हाथमें लेनेके घमंडकी वृत्ति कम होती है, और पंचोंकी ओरसे न्याय प्राप्त करनेकी सात्विक प्रवृत्ति बढती है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति समाजके हितके लिये आवश्यक है।

संध्या करनेके समय इस प्रकार अपने आपको समाजका अवयव समझनेका सात्विक भाव बढाया जाता है। मैं जनताका एक अंश हूं, जनताका और मेरा अटूट संबंध है, यह भावना अत्यंत श्रेष्ठ है, और इस उच्च भावनाका बीज संध्याके समय कितनी उत्तमतासे अंतःकरणमें रखा गया है। यही वैदिक धर्मका ही महत्व है।

'तेभ्यो नमो०' आदि दो पाद प्रत्येक मंत्रमें हैं। ये दो पाद छे मंत्रोंमें बार बार कहे हैं। बार बार मंत्रोंका जो अनुवाद किया जाता है उसको 'अभ्यास' कहते हैं। विशेष महत्वपूर्ण मंत्रोंका ही इस प्रकार बारंवार अनुवाद वेदमें किया गया है। इससे सिद्ध है, कि इन मंत्रोंका भाव मुख्य है, और इनके अनुकूल शेष मंत्रभागका अर्थ करना चाहिए। अर्थात् इस सूक्तका अर्थ सार्वजनिक है।

(१ प्राची दिक्) प्रगतिकी दिशा Direction of advancement, (२ अग्निः अधिपतिः) तेजस्वी स्वामी spirited ruler, (३ अ-सितः रक्षिता) स्वतंत्र संरक्षक free protector, और (४ आदित्याः इषवः) स्वतंत्रता पूर्ण वक्तृत्व free delivery of speech ये चार बातें हैं।

प्रत्येक दिशा विशेष मार्गकी सूचक समझी जाती है और उस विशेष मार्गके साधक तीन गण हैं । प्रत्येक दिशाके साथ ये गण निश्चित हैं । इस पूर्व दिशाके अनुसंधानसे प्रगतिके मार्गका उपदेश किया है । तेजस्विता स्वतंत्रता और वक्तृत्व ये तीन गुण उन्नतिके साधक हैं । अर्थापत्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निस्तेज निर्वीर्य राजा, पराधीन रक्षक और अस्वतंत्र वक्ता किसी प्रकार भी उन्नतिका साधन नहीं कर सकते । इसी प्रकार अन्य दिशाओंका विचार करके बोध जानना उचित है ।

(१) प्रगतिका निश्चित मार्ग, (२) तेजस्वी स्वामी, (३) स्वाधीनता धारण करनेवाला रक्षक, और (४) स्वतंत्रतापूर्ण वक्तृत्व, ये चार बातें मानवी उन्नतिके लिये आवश्यक हैं । इसी प्रकारके स्वामी, संरक्षक, और वक्ताओंका सत्कार होना उचित है । जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं उसको आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन हम सब करते हैं । यह मंत्रका सीधा आशय है । मनुष्यकी भलाईके उपदेश यहां हैं । इस प्रकार अर्थका मनन करना उचित है । अब मुख्य शब्दोंके मूल अर्थोंका मनन करते हैं—

(१) 'अग्नि' शब्द वैदिक वाङ्मयमें ब्राह्मण और वक्तृत्वका प्रतिनिधि है । दिशा कोष्टक सं० २ देखिए, उसमें प्राची दिशाका 'ब्रह्म' अर्थात् ज्ञान ही धन कहा है ।

(२) 'अ-सित' शब्दका अर्थ (unbound) बंधन रहित, स्वतंत्र, स्वाधीन ऐसा है । 'सि-बंधने' इस धातुसे 'सित' शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'पर-स्वाधीन' है । 'अ-सित' अबद्ध, स्वतंत्र, free ।

(३) 'आदित्य' शब्द 'अ-खंडनीय' अर्थमें प्रयुक्त होता है । 'दो-अवखंडने' धातुसे 'दिति' शब्द बनता है जिसका अर्थ 'खंडित' है । 'अ-दिति'का अर्थ 'अ-खंडित' है । अदितिका भाव आदित्य है । अखंडनीय, अमर्याद, बंधन रहित, स्वतंत्रताके भाव, जहां अज्ञानका बंधन नहीं है ।

(४) 'इषु'—'इष्-गतौ' धातुसे यह शब्द बनता है । इस लिये 'गति, हलचल' यह भाव इस शब्दमें मुख्य है । पश्चात् इसके अर्थ (to cause to move, *deliver a speech*, proclaim, promote)

हलचलका यत्न करना, वक्तृत्व करना, घोषणा देना, उन्नति करना, ये हो गये । इस धात्वर्थका भाव 'इषवः' शब्दमें है ।

अस्तु इस प्रकार प्रथम मंत्रका आशय है । अब द्वितीय मंत्र देखिए—

(१ दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशा direction of dexterity, (२ इन्द्रः अधिपतिः) शत्रुनिवारक स्वामी conquering ruler, (३ तिरश्चिराजी रक्षिता) पंक्तिमें चलनेवाला संरक्षक protector who moves in his own line, और (४ पितरः इषवः) वीर्यवान हलचल करनेवाले, ये चार बातें उन्नतिकी साधक हैं । इसी प्रकारके स्वामी रक्षक और पालकोंका सत्कार हो । जो आस्तिकोंसे द्वेष करता है और जिसका आस्तिक द्वेष करते हैं उसको हम सब आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन करते हैं ।

(५) 'इन्द्रः'—(इन् शत्रून् द्रावयिता ॥ निरु. १०।८) शत्रुका निवारण करनेवाला, विजयी ।

(६) 'तिरश्चिराजी'—तिरः—Through बीचमेंसे, अंच्—to move जाना, राजी—line लकीर, मर्यादा । अपनी मर्यादाका उल्लंघन न करनेवाला ।

(७) 'पिता'—(पातीति पिता) संरक्षक पिता है । वीर्य धारण करके उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाला वीर्यवान् पुरुष पिता होता है ।

यह भाव द्वितीय मंत्रका है । अब तीसरा मंत्र देखिए—(१ प्रतीची दिग्) अंतर्मुख होनेकी दिशा direction of turning inward (२ वरुणः अधिपतिः) सर्व संमत स्वामी elected ruler, (३ पृदाकुः रक्षिता) स्पर्धामें उत्साही रक्षक protector who is active in the struggle, और (४ अन्नं इषवः) अन्नकी वृद्धि increase of food ये चार बातें अभ्युदय की साधक हैं ।

(१ उदीची दिग्) उत्तर दिशा, उच्च तर होनेकी दिशा, direction of betterment, (२ सोमः अधिपतिः) शांत स्वामी peaceful ruler (३ स्व-जः रक्षिता) स्वयं सिद्ध संरक्षक ever ready protect-

or और (४ अशनिः इषवः) तेजस्वी प्रगति ये चार बातें उन्नति की हैं।

(१ ध्रुवा दिग्) स्थिर दिशा direction of firmness, (२ विष्णुः अधिपतिः) कार्यक्षम स्वामी working ruler, (३ कल्माषग्रीवः रक्षिता) कर्मकर्ता संरक्षक active protector और (४ वीरुधः इषवः) औषधियोंकी वृद्धि raising of vegetation ये चार बातें उत्कर्षके लिये हैं।

(१ ऊर्ध्वा दिग्) उच्च दिशा direction of elevation (२ बृहस्पतिः अधिपति) ज्ञानी स्वामी learned ruler, (३ श्वित्रः रक्षिता) शुद्ध संरक्षक pure protector, (४ वर्षं इषवः) वृष्टिकी गति ये चार बातें उन्नति करनेवाली हैं।

अब इन शब्दार्थोंका मनन करेंगे। शब्दोंके मूल धात्वर्थ नीचे दिये हैं—

(१) 'वरुणः'—वर–वृ–वरणे। पसंद करना। जो पसंद किया जाता है वह वरुण होता है। सर्व संमत सर्व श्रेष्ठ।

(२) 'पृदाकुः'—(पृत्–आ–कुः)–पृत् का अर्थ (Battle) युद्ध, संग्राम, स्पर्धा। स्पर्धाके समय उत्साहके शब्द बोलने वाला 'पृदाकु' होता है। कु=शब्द।

(३) 'सोमः'—शांतिका सूचक चंद्र अथवा सोम है। इसका दूसरा अर्थ 'स+उमा' अर्थात् विद्याके साथ रहनेवाला अर्थात् ज्ञानी है। 'सु–प्रसवऐश्वर्ययोः' इस धातुसे 'सोम' शब्द बनता है जिसका अर्थ 'उत्पादक, प्रेरक और ऐश्वर्यवान्' ऐसा होता है।

(४) 'स्वजः' (स्व+जः)–self-born, self-made, अपनी शक्तिसे रहनेवाला, जिसे दूसरेकी शक्तिका अवलंबन करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वावलंबन–शील। स्वयं जिसका यश चारों ओर फैलता है।

(५) 'अशनिः'—यह विद्युत्का नाम है। तेजस्विताका बोध इस

शब्दसे होता है। 'अश्' धातुका अर्थ 'व्यापना' है। व्यापक शक्तिका नाम अशनि है।

(६) 'विष्णुः'—All-pervader, worker, सर्व व्यापक, कर्ता, उद्यमी।

(७) 'कल्माष-ग्रीवः'—'कल्मन्'का अर्थ 'कर्मन्' अर्थात् कर्म, कार्य, उद्योग है। 'कल्माष'=(कल्म-स)=कर्मके द्वारा अनिष्ट बुराईका नाश करनेवाला। 'कर्मणा अनिष्टं स्यति इति कर्माषः । कर्माष एव कल्माषः।' पुरुषार्थसे दुष्टताको दूर करके सुष्टुताको पास करनेवाला और इस प्रकारके पुरुषार्थके भाव गलेमें सदा धारण करनेवाला 'कल्माप-ग्रीव' किंवा 'कर्मा-स-ग्रीव' कहलाता है।

(८) 'बृहस्पतिः'—महान् ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी । स्तुति अथवा भक्तिका अधिष्ठान।

(९) 'श्वित्रः'—शुद्ध, पवित्र, श्वेत।

अस्तु, इस प्रकार मुख्य शब्दोंके अर्थ हैं। वास्तवमें मनसा परिक्रमाके मंत्रोंके विषयमें ठीक अर्थका निश्चय अबतक हुआ नहीं है। कमसे कम सब शब्दोंका भाव मेरे मनमें अबतक उतरा नहीं है। तथापि इन मंत्रोंके विचारके लिये जो साधन चाहिए उन सबको यहां एकत्रित कर दिया है। आशा है कि पाठक इस सब साधन सामग्रीका विचार करेंगे।

पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव और ऊर्ध्व ये छः दिशायें क्रमशः प्रगति, चातुर्य, शांति, उन्नति, स्थैर्य और श्रेष्ठता इन छः गुणोंकी सूचक हैं। इन छः गुणोंका साधक 'गुण-चतुष्टय' पूर्वोक्त मन्त्रोंमें वर्णन किया है। (१) दिशा, (२) अधिपति (३) रक्षक और (४) इषु ये चार शब्द विशेष संकेत के हैं, और इन शब्दोंमें यहां असाधारण विशेष गूढ अर्थ है, इस बातका प्रकाश पाठकोंके मनमें पूर्ण रीतिसे पडाही होगा। वारंवार मनन करके इनके गूढ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना हम सबका कर्तव्य है।

इन मंत्रोंमें 'इषु' शब्द विलक्षण अर्थके साथ प्रयुक्त हुआ है। इसका

किसी अन्यभाषामें भाषांतर करना अत्यंत कठिन कार्य है। किसी एक प्रतिशब्दसे इसका भाव प्रकट होता ही नहीं । इसलिये इन मंत्रोंको विशेष विचारसे सोचना चाहिए ।

'मनसा परिक्रमा' का हेतु इतना ही है कि अपनी और जनताकी वास्तविक स्थितिका विचार मानसिक सृष्टिमें परिभ्रमण करके करना। इस विचारको करते हुए मानवी उन्नतिके साधक गुण समुदायका मनन करना उचित है । उत्तम अधिपति और श्रेष्ठ संरक्षकोंका सन्मान होनेसे जन-समाजकी स्थिति ठीक रहनी है, और राज्यशासन ठीक चल सकता है। अधिपति मुख्य होते हैं और संरक्षक उनके आधीन रहकर कार्य करने-वाले होते हैं । अधिपति और संरक्षकोंके विषयमें जनतामें निरादर नहीं होना चाहिए । अधिपति और संरक्षकोंके गुण, जो इन मंत्रोंमें वर्णन किये गए हैं, जहां होंगे वहां सब जनताका पूज्यभाव अवश्य रहेगा । दुष्टको दंड देनेका अधिकार इनहीको है । किसी मनुष्यको उचित नहीं की वह अपने हाथमें न्याय करनेका अधिकार स्वयंही लेकर किसीको दंड देवे । इससे अशांति और अराजकता होती है । इसलिये प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि 'हम श्रेष्ठ और योग्य अधिपतियोंका आदर करते हैं और दुष्टका शा-सन होनेके लिये उसको उनहींके स्वाधीन करते हैं ।' सब लोकोंपर इस भावके संस्कार होनेकी बडी भारी आवश्यकता है ।

मनसे सार्वजनिक अवस्थाका निरीक्षण करना और मानवी हितसाधन करनेका विचार करना, इन मंत्रोंका मुख्य उद्देश है । 'अघ-मर्षण' के मंत्रोंतक सब मंत्रोंमें मुख्यतया व्यक्तिके सुधारकी बातें आ चुकीं हैं, पश्चात् इन मंत्रोंमें जनताकी उन्नतिके विचारकी सूचना मिली है । वैदिक धर्ममें व्यक्ति और समाजका मिलकर सुधार लिखा है । केवल व्यक्तिका सुधार नहीं होगा, और केवल समाजका भी नहीं होगा । दोनोंका मिल-कर होगा । व्यष्टि समष्टिकी मिलकर उन्नति होती है । इसलिये प्रतिदि-नके संध्योपासनामें ये सार्वजनिक उन्नतिके मंत्र रखे हैं । प्रत्येक मंत्रकी प्रथम पंक्तिमें सामान्य सिद्धांत कहे हैं और शेष मंत्रमें उन सिद्धांतोंको जनतामें घटाकर बताया है ।

दिशाओंका तत्वज्ञान

वैदिक दृष्टि ।

वैदिक तत्वज्ञान इतना विस्तृत, व्यापक और सर्वगामी है, कि उसका उपदेश न केवल वेदके प्रत्येक सूक्त द्वारा हो रहा है; परंतु वेदके सूक्त पाठकोंमें वह दिव्य दृष्टि उत्पन्न कर रहे हैं, कि जिस दृष्टिसे जगतके प्रत्येक पदार्थमात्रकी ओर विशेष भावनासे देखनेका गुण वैदिक धर्मियोंके अन्दर उत्पन्न हो सकता है। विशेष प्रकारका दृष्टिकोन उत्पन्न करना वेदको अभीष्ट है। यदि पाठकोंमें यह दृष्टिकोन न उत्पन्न हुआ, तो वैदिक मंत्रोंका अर्थ समझना ही अशक्य है। वेद मंत्रोंकी रचना, तथा उनको समझनेकी रीति, वैदिक उपदेशकी पद्धति तथा वैदिक दृष्टि, इतनी विलक्षण और आजकलकी अवस्थासे भिन्न है कि, वह दृष्टि अपनेमें उत्पन्न करना ही एक बडे प्रयासका कार्य, आजकलकी सभ्यताके कारण, हो गया है। आजकलकी जड सभ्यताकी रीति अवलंबन करनेके कारण वह परिशुद्ध मानसिक अवस्था और वह दिव्य दृष्टि हमारेमें नहीं रही, कि जो प्राचीन आर्योंमें वैदिक धर्मके कारण थी।

किसी काव्यकी भाषा नीरस और शुष्क हृदयमें कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती। काव्यका रस जाननेके लिये पाठकोंका तथा श्रोताओंका हृदय विशेष संस्कृतिसे संपन्न ही चाहिए। कविकी दृष्टिसे ही काव्यका रस ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा कविकी दृष्टिके विना कोई काव्य पाठकोंके हृदयपर प्रेमका भाव उत्पन्न कर ही नहीं सकता। उच्च कविता जंगली मनुष्योंके हृदयोंपर कोई इष्ट परिणाम नहीं कर सकती, इसका यही हेतु है। वीणाकी एक तार बजानेसे उसके स्वरके साथ मिली हुई दूसरी तार आप ही आप आवाज देती रहती है, परंतु जो तार उसके स्वरके साथ मिली नहीं होती, वह नहीं बजती। यही नियम काव्यके आस्वाद लेनेके विषय मेंभी है। जो हृदय कवीके हृदयके समान उच्च होते हैं वेही उस काव्यसे हिल जाते हैं, परंतु जो हृदय भिन्न प्रकारकी अवस्थामें

होते हैं, वे नहीं हिल सकते। वेद 'देवका काव्य' होनेसे उसको समझने और उसका वास्तविक आनंद लेनेके लिये भी विशेष उच्च कोटीके हृदय चाहिए।

यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, कि यदि ऐसा है तो सामान्य मनुष्यके लिये वेद निकम्मा सिद्ध होगा! परंतु वास्तविक बात वैसी नहीं है! परमेश्वरकी सृष्टि जैसी सब मनुष्योंके लिये है, उसी प्रकार ईश्वरके वेद भी सब मनुष्योंके लिये ही हैं। परंतु अपनी योग्यता और अवस्थानुसार हरएक मनुष्य वेदसे लाभ उठा सकता है।

जिस प्रकार साधारण मनुष्य जलसे तृषा शांत करने और अग्निसे शीत निवारण करनेका काम लेकर इन पदार्थोंका उपयोग करता है, और समझता है, कि सृष्टिका मैनें उपभोग लिया; तद्वत् साधारण मनुष्य वेदका स्थूल अर्थ लेता है और समझता है कि मैंने वेदका अर्थ जान लिया। जैसा—"अग्निं ईडे" का अर्थ "मैं आगकी प्रशंसा करता हूं" इतना ही समझना है।

जिस प्रकार उच्च कोटीके वैज्ञानिक यंत्रकलानिपुण महाजन उसी जल और अग्निको यंत्रोंमें रखकर उनके योगसे बडे बडे यंत्र चला लेते हैं, और समझते हैं कि हमने सृष्टिका उपभोग लिया; तद्वत् ही बडे योगी और आत्मज्ञानी पुरुष उसी वेद मंत्रका काव्य दृष्टिसे अवलोकन करके परमात्म तत्वके सिद्धान्तोंको जानते हैं। जैसा—"अग्निं ईडे" का अर्थ ये लोक समझते हैं कि "मैं उस तेजस्वी आत्माकी प्रशंसा करता हूं।"

जैसा सृष्टिका उपभोग दोनों ले रहे हैं, वैसा ही वेदका अर्थ दोनों समझ रहे हैं। परंतु एककी साधारण दृष्टि अथवा जड दृष्टि है और दूसरेकी असाधारण अथवा काव्यदृष्टि है। वेद दिव्य काव्य होनेसे इस प्रकारकी असाधारण काव्य दृष्टिसे ही उसका आशय देखना उचित है। यद्यपि सबको यह दृष्टि साध्य नहीं है, तथापि जिनको साध्य हो गई है उनकी सहायतासे अन्योंको उचित है कि वे अपनी गति इस भूमिकामें करें। आचार्यके बताये मार्गसे चलनेका यही तात्पर्य है।

वेदका अर्थ समझनेके लिये न केवल वेद मंत्रोंका विशेष दृष्टिसे और विशेष पद्धतिसे अर्थ जाननेकी आवश्यकता है, परंतु सृष्टिकी ओर भी विशेष आत्मिक भावनासे देखनेकी अत्यंत आवश्यकता है। सर्व साधारण लोकोंको सृष्टिके तरफ जड दृष्टिसे देखनेका अभ्यास आजकल हो गया है। यही अभ्यास अत्यंत घातक है। जबतक जनतामें जड दृष्टि रहेगी, तबतक उनमें वैदिक दृष्टिका अभाव ही रहेगा। "जिस अवस्थामें सब भूतमात्र आत्मरूप होगये, उस अवस्थामें एक-त्व-का सर्वत्र दर्शन होनेके कारण शोक मोह नहीं होता।" (य. ४०।७) यह दृष्टि है कि जिस दृष्टिसे सृष्टिकी ओर देखना चाहिए। परमात्म शक्तिका जो विकास इस प्रकृतिमें होगया है, वह ही सृष्टि है। इस दृष्टिको 'आत्मरूप दृष्टि' कहते हैं।

जड दृष्टिके लोक अपने शरीरकी ओर भी जडत्वके भावसे देखते हैं और केवल अस्थि, मज्जा, मांस आदिकोंको ही देखते हैं; उनको इन जड पदार्थोंसे भिन्न कोई श्रेष्ठ पदार्थ इस शरीरमें दिखाई नहीं देता; परंतु दूसरे सुविज्ञ लोक ऐसे हैं, कि जो इस शरीरकी ओर चेतन दृष्टिसे देखते हैं, और हरएक शरीरके भागमें आत्माकी शक्तिका विकास और आभास देखते हैं। यह दूसरी दृष्टि वेदको अभीष्ट है। इसी दृष्टिसे सृष्टिका निरीक्षण करनेका तथा वेदका अभ्यास करनेका यत्न करना चाहिए। इस विचारका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिये इस लेखमें दिशाओंका विषय लिया है, आशा है कि पाठक इस लेखको उक्त भावनाके साथ पढेंगे--

"प्राची दिशा", पूर्व दिशाकी विभूति।

पूर्व दिशाके लिये वेदमें विशेष कर "प्राची दिक्" शब्द आता है। इसका मूल अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) प्राची=(प्र+अंच्)='प्र' का अर्थ 'आधिक्य, प्रकर्ष, आगे, सन्मुख', है। 'अंच्' का अर्थ 'गति पूजन' अर्थात् जाना, बढना, चलना, हलचल करना, सत्कार और पूजा करना है। तात्पर्य 'प्राची' शब्दका अर्थ आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना, प्रगतिका साधन

करना, उदयको प्राप्त होना, अभ्युदय संपादन करना, ऊपर चढना, इत्यादि प्रकार होता है।

(२) दिक्=दिशा=का अर्थ तर्फ, सीध, ताक, हिदायत आज्ञा, निशाना, सीधा रास्ता, सरल मार्ग, इत्यादि होता है।

उक्त दोनों अर्थोंको एकत्रित करनेसे "प्राची दिक्" का अर्थ—(१) आगे बढनेकी दिशा, (२) उदयका मार्ग (३) अभ्युदय प्राप्त करनेका रास्ता, (४) सत्कार और पूजाका पंथ, (५) उन्नतिकी हलचल, (६) उच्च गतिका सीधा मार्ग, इत्यादि प्रकार होता है। अंग्रेजीमें "प्राची दिशा" का मूल अर्थ—Direction of advancement and progress बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, अभ्युदयका मार्ग, वृद्धिका रास्ता है।

इस अर्थको मनमें धारण करके पाठक पूर्वदिशाकी ओर सवेरे देखें। विचार पूर्वक देखनेके पश्चात् पाठकोंको पता लग जायगा कि पूर्वदिशाका नाम "प्राची दिक्" वेदने क्यों रखा है। विचारकी दृष्टिसे रात्रीके समयमें भी पूर्वदिशाकी ओर पाठक देखते जांय। पूर्वदिशाकी अपूर्वता सवेरे और रात्रीके समय ही ज्ञात हो सकती है। दिनके समय सूर्यके प्रचंड प्रकाशके कारण इस दिशाका महत्त्व ध्यानमें नहीं आ सकता। इस लिये सवेरे और रात्रीको ही पूर्व दिशाके महत्वका चिंतन करना चाहिए।

तार्किक लोक दिशाओंको जड कहते हैं, उनको वैसा ही कहने दें, क्योंकि उनकी दृष्टि भिन्न है। वेद पढनेके समय आपको सर्वत्र पूर्ण चैतन्यकी दृष्टिसे देखना चाहिए। जैसा पूर्व दिशामें उसी प्रकार अन्य सब दिशाओंमे चैतन्यका विकास हो रहा है, ऐसी शुद्ध कल्पना कीजिए। और प्रत्येक दिशा जीवित और जागृत है, तथा विशेष प्रकारकी शक्तिका प्रकाश कर रही है, ऐसी कल्पना कर लीजिए। यदि आप इसको क्षणमात्र देवता मान सकेंगे तो भी हमारे प्रस्तुतके कार्यके लिये बहुत अच्छा है।

आप प्रभात कालमें पूर्व दिशाकी ओर मुख कर लीजिए। कई तारागणोंका उदय हो रहा है और कइयोंका उदय हो गया है, ऐसा आप

देखेंगे। अनंत तारागणोंको जन्म देनेवाली, उनका उदय करानेवाली यह पूर्वदिशा है। तेजस्विताका प्रकाश इस दिशासे हो रहा है। प्रतिक्षण इस दिशाकी प्रतिभा बढ रही है, क्योंकि तेजोरूप सूर्यनारायणका अब जन्मका समय है। देखिए। थोडे ही समयमें सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् उदयको प्राप्त होंगे और संपूर्ण जगतको नवजीवनसे संचारित करेंगे। तमोगुणी अंधकारका नाश होगा और सत्वगुणी प्राणमय प्रकाश चारों ओर चमकने लगेगा। देखिए अब सूर्यका उदय हो गया है यह सूर्यबिंब कैसा मनोरम, रमणीय, स्फुरण देनेवाला, आनंदको बढानेवाला, तेजका अर्पण करनेवाला, तथा सहस्रों शुभ गुणोंसे युक्त है!! आप इसको केवल जड न समझिए। यह हमारे प्राणोंका प्राण है, यह स्थावर जंगमका जीवनदाता है, इसके होनेसे हम जीवित रह सकते हैं और इसके न होनेसे हमारा मृत्यु है, ऐसा यह सूर्यनारायण हमारे जीवनका आधार, परमेश्वरके अद्वितीय तेजका यह सूर्य निःसंदेह व्यक्त पुंज है। इसकी कल्पनासे आप परमात्माकी अद्वितीय तेजस्विताकी कल्पना कर सकते हैं। इस उच्च दृष्टिसे आप इसका निरीक्षण कीजिए। उदय होते ही इसका तेज बढने लगा है। तात्पर्य यह पूर्व दिशा हरएकको उदयके मार्गकी सूचना दे रही है, अभ्युदयका रास्ता बता रही है, अपनी तेजस्विता बढानेका उपदेश कर रही है। वेद कहता है कि यह "उदयकी दिशा" है। सबका उदय यहांसे हो रहा है। हे मनुष्य! तुम प्रतिदिन इसका ध्यान करो और अपने उदयका मार्ग सोचो।

सूर्य चंद्रका और सब तारागणोंका उदय देखते हुए आप अपने उदयके मार्गकी सूचना निःसंदेह ले सकते हैं। यदि एक समय अस्तको पहुंचा हुआ सूर्य पुरुषार्थसे फिर अपनी परिपूर्ण तेजस्विताके साथ उदयको प्राप्त हो सकता है, यदि क्षयरोगके कारण अत्यंत क्षीणताको पहुंचा हुआ चंद्रमा प्रतिदिन शनैः शनैः प्रयत्न करता हुआ फिर पूर्णिमाके दिन अपने परिपूर्ण वैभवको इसी पूर्व दिशासे प्राप्त हो सकता है, इसी प्रकार यदि सब तारागण एकवार अस्तंगत होनेपर भी पुनः पूर्ववत् उदयको प्राप्त कर सकते हैं; तो क्या मनुष्य, किसी कारण अवनतिमें पहुंच गये

होंगे तो भी, फिर उन्नत नहीं हो सकेंगे? जिस मनुष्यके हृदयमें प्रत्यक्ष आत्मा बैठा है, जिस मनुष्यके शरीरमें सब सूर्य चंद्रादि देवताओंने प्रत्यक्ष जन्म लिया है, ऐसा मनुष्य कि जो ३३ कोटी देवताओंका स्वरूप है, वह पुरुषार्थ करनेपर नीच अवस्थामें क्यों कर रह सकता है? न केवल अभ्युदयपर इसका परिपूर्ण अधिकार है, परंतु यह अपना जैसा चाहे वैसा अभ्युदय अपने ही स्वावलंबनसे और अपने ही पुरुषार्थसे निःसंदेह प्राप्त कर सकता है। व्यक्तिशः और संघशः, अर्थात् अपना और जातीका, निजका और राष्ट्रका इसी दृढ भावनासे उदय हो सकता है।

देखिए पूर्व दिशाका संदेशा आपके लिये कैसा उत्तम है। प्रतिदिन आप संध्यामें पूर्व दिशाका स्मरण करते ही हैं। उस समय केवल जड दिशाका केवल उच्चारण मात्र करके ही चुप न रहिए; आपको अत्यंत आवश्यक है, कि आप इस दिशाके आत्माका साक्षात्कार कीजिए, इस दिशाका सत्व देखिए, इस दिशाका उपदेश श्रवण कीजिए, इस दिशाका गंभीर कार्य जो प्रतिदिन आपके सन्मुख रखा जा रहा है, खुले आंखसे देखिए, और पूर्व दिशाके अवलोकनसे अपने जीवनमें सब जनताके लिये मार्गदर्शक अपूर्व पूर्वदिशा बनाइए। यह काव्य है कि जो वेदके "प्राची दिशा" ये दो शब्द आपके कानोंमें अथवा आपकी दृष्टिके सामने प्रतिदिन रखनेका यत्न कर रहे हैं! क्या आप इस उपदेशका ग्रहण नहीं करेंगे। अब इसी बातको वेदनें किस प्रकार व्यक्त किया है, देखिए—

प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि ॥

अथर्व. ४।१४।७

"(प्राच्यां दिशि) पूर्व दिशाके स्थानमें (अजस्य) प्रेरकका (शिरः) सिर (धेहि) धारण करो अथवा रखो।"

व्यक्तिमें प्रेरक आत्माका नाम 'अज' है, समाजमें प्रेरक धुरीणका नाम 'अज' होता है। 'अज्' धातुका अर्थ 'हलचल करना' है, इस धातुसे 'अज' शब्द बननेके कारण इसका अर्थ 'गति, हलचल, प्रगति, उन्नति करनेवाला' इतना मूल यौगिक दृष्टिसे होता है।

शरीरमें सिरका संबंध पूर्व दिशासे है, क्योंकि प्रगतिके विचार सबसे प्रथम सिरमें उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार पूर्वदिशामें तेजस्विताका उदय होता है, सब तेजस्वी गोलोंका उदय होकर उनका तेज फैलता है, उसी प्रकार हलचल करनेवालेके सिरमें सबसे प्रथम तेजस्वी सुविचारोंका उदय होता है, और तत्पश्चात् उन विचारोंका फैलाव और विस्तार होता है। इसलिये व्यक्तिमें पूर्व दिशाके स्थानमें सिर ही रखने योग्य है। तात्पर्य हरएकको अपना सिर जनताके और साथ साथ अपने भी उत्कर्षके सुविचारोंका उदय करनेवाला, पूर्व दिशाके समान सबका उदय कर्ता, बनाना उचित है। पूर्व दिशासे सहस्ररश्मी सूर्यका उदय होता है, सिरमें सहस्र प्रकारके सुविचार करनेवाले दिमागका उदय होता है, योगमें इस दिमागको ही '**सहस्रार कमल**' कहते हैं। इस दिमागसे सहस्र धाराओं द्वारा बुद्धिका विलक्षण प्रवाह और ज्ञानका रस फैलता रहता है। सूर्यके सात प्रकारके किरण होते हैं, यहां मस्तिष्कके सात किरण दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासिका और एक जिह्वा द्वारा फैल रहे हैं। इनको ही वेदमें '**सप्त ऋषि**' कहा है और वैदिक परिभाषामें 'सप्त नद, सप्त आप' आदि नामसे इनका ही वर्णन होता है। अस्तु। इस प्रकार अपने ही शरीरमें पूर्व दिशाका अवलोकन उपासकको करना चाहिए। जो आध्यात्मिक भाव व्यक्तिमें होता है वही आधिभौतिक भाव राष्ट्रमें होता है। इसलिये अब राष्ट्रीय पूर्व दिशा देखिए—

प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथंतरं साम
त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम्॥

य. १०।१०

"(प्राचीं) पूर्वदिशाका आलंबन करके (आरोह) ऊपर चढो। यहां गायत्री तेरा (अवतु) रक्षण करे। रथंतर साम और त्रिवृत्स्तोम साथी हैं। वसंत ऋतु और (ब्रह्म) ज्ञान तथा ब्राह्मण वर्ण (द्रविणं) धन है।"

यह "**संकेत-मंत्र**" है। जिस मंत्रमें संकेतसे बातें कहीं होतीं हैं वह संकेत-मंत्र कहलाता है, इसका निम्न प्रकार विवरण है—

(१) प्राचीं आरोह—उदयकी दिशासे ऊपर चढो । यह पहिला सांकेतिक उपदेश है। पूर्व दिशासे जिन भावनाओंका उपदेश प्राप्त हो सकता है, उसका वर्णन पूर्वस्थलमें किया ही है। उन भावनाओंका आश्रय करनेसे निःसंदेह अभ्युदयका साधन हो सकता है। पूर्व दिशाका विचार करो और अपनी उन्नतिका मार्ग जानो, यह काव्यमय कथन विलक्षण सत्यका उपदेश कर रहा है। उपदेश लेनेवाला चाहिए, यदि उपदेश लेनेकी तैयारी होगी, तो पूर्व दिशा द्वारा होनेवाला उपदेश मनुष्यका बेडा पार कर सकता है।

(२) गायत्री त्वा अवतु—गायत्री ही तेरा रक्षण करे। 'गाय-त्री' का अर्थ 'प्राणोंकी रक्षक शक्ति' है। 'गय' का अर्थ 'प्राण' है, और 'त्री' का अर्थ 'रक्षक शक्ति' है। प्रत्येक प्राणिमात्रका संरक्षण इसी प्राणसंरक्षक जीवनशक्तिसे ही हो रहा है। मनुष्योंका भी संरक्षण इसी जीवनशक्तिसे होगा। प्राणायामादि द्वारा जो अपनी प्राण शक्तिका बल बढाते हैं, उनका संरक्षण उसी शक्तिसे होता है। जिस प्रकार सूर्यचंद्रादिकोंका पूर्व दिशासे उदय होता है ठीक उसी प्रकार नेत्र श्रोत्र आदि सब वैयक्तिक शक्तियोंका उदय और परिपोष इस गायत्र संज्ञक प्राणसे होता है, इसलिये व्यक्तिकी शक्तियोंकी अपेक्षासे यह मुख्य प्राण ही पूर्व दिशारूप है।

[पूर्वोक्त मंत्रके 'रथं-तर साम' तथा 'त्रिवृत् स्तोम' के विषयमें यहां लिखा नहीं जा सकता, क्योंकि उनके संबंधका ज्ञान इस समय तक मुझे प्राप्त नहीं हुआ है]

(३) वसंत ऋतुः—ऋतुओंमें वसंत ऋतु संवत्सरकी पूर्व दिशा है, अर्थात् चैत्र वैशाख (मधु, माधव) ये दो महिने भी संवत्सरका उपःकाल अथवा पूर्व दिशा ही हैं। वसंत ऋतुमें सब फूल फल वृक्षोंपर आते हैं, सृष्टिकी सुंदरता अत्यंत बढती है, जिस प्रकार प्रातःकालके समय पूर्व दिशा सुंदर दिखाई देती है, ठीक उसी प्रकार वसंत ऋतुमें सब सृष्टिको नवजीवन प्राप्त होता है। इसलिये यह वसंत ऋतु सब ऋतुओंमें पूर्व दिशा है।

(४) ब्रह्म—'ज्ञान' सब विद्याओंकी पूर्व दिशा है और 'ब्राह्मण' सब मनुष्योंकी पूर्व दिशा है। 'ब्रह्म' शब्दके 'ज्ञान और ब्राह्मण' ये दो अर्थ यहां अभीष्ट हैं। व्यक्तिमें ज्ञान और जनतामें ज्ञानी उन्नतिकी प्रेरणा करते हैं। पूर्वस्थानमें सिरका पूर्व दिशासे संबंध जोड दिया है। राष्ट्रपुरुषका सिर ब्राह्मण ही है। इसलिये शरीरमें जो काम सिर कर रहा है वही ब्राह्मणोंको राष्ट्रमें करना उचित है। राष्ट्रकी, जातीकी तथा जनताकी पूर्व दिशा ब्राह्मण वर्ण अथवा तत्वज्ञानी पुरुष हैं, क्योंकि इन ज्ञानी पुरुषोंसे ही सब शुभ विचारोंका उदय होता है, और ये ही शुभ विचार सब जनतामें फैलते हैं और सबका अभ्युदय करते हैं।

सारांश व्यक्तिमें पूर्व दिशा सिर है, तथा शक्तियोंमें ज्ञान और मस्तिष्क, इंद्रियोंमें मुख्य प्राण पूर्व दिशा है। राष्ट्रमें पूर्व दिशा ब्राह्मण अथवा तत्त्वदर्शी पुरुष हैं। जगतमें यही पूर्व दिशा है कि जहांसे सूर्यका उदय होता है। इसी प्रकार ऋतुओंमें वसन्त ऋतु, महिनोंमें चैत्र मास, तिथियोंमें प्रतिपदा, अक्षरोंमें अकार, कुटुंबमें बालक, आयुमें बाल्य, कालोंमें प्रातःकाल, आश्रमोंमें ब्रह्मचर्याश्रम, पुरुषार्थोंमें धर्म, वेदोंमें ऋग्वेद, युगोंमें सत्ययुग, भावनाओंमें उत्साहकी भावना, वृक्षोंमें अंकुरकी स्थिति आदि सब पूर्व दिशाका रूप है।

जहांसे प्रारंभ और प्रगति अथवा प्रेरणा होती है वह पूर्व दिशाका रूप है। इस मूलभूत भावनाको मनमें धारण करके जहां जहां प्रगतिकी प्रेरणा देखेंगे,, वहां "पूर्वदिशाकी विभूति" है, ऐसा आप समझ लीजिए। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण महाराजजीनें अपना विभूतियोग वर्णन किया है, यजुर्वेद अ. १६ में रुद्र देवताका विभूतियोग कहा है। यहां पूर्वदिशाकी विभूतियोंका अल्प वर्णन हुआ है। इस प्रकार वेदमें प्रत्येक देवताका विभूति–योग कहा गया है। और इस विभूतियोगकी कल्पनासे ही प्रत्येक देवताके मंत्र पढने चाहिए।

"प्राची दिशा" की मूल तात्विक भावना आप जहां देखेंगे वहां आप पूर्व दिशाकी कल्पना कर सकते हैं। वह पूर्व दिशा उस जातिकी होगी कि जिसकी भावना आपने की है। अर्थात् चातुर्वर्ण्यकी पूर्वदिशा

ब्राह्मण हो सकता है, तथा शरीरकी पूर्व दिशा सिर हो सकता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी अनुसंधान करके देखना चाहिए ।

केवल दिशाओंके विज्ञानसे पाठकोंको वेद किस उच्च भूमिकामें ले जा रहा है, यह यहां देखिए । वेदका दिव्य ज्ञान इस प्रकारका है, वह स्थूलसे सूक्ष्मतक ले जाता है, दृश्यसे अदृश्यमें पहुंचाता है, व्यक्तसे अव्यक्तकी कल्पना कराता है, अर्थात् कार्यको देख कर कारणका विचार मनमें उत्पन्न करता है । इसी कारण वेदकी श्रेष्ठता सर्वोपरि है ।

इस लेखको पढनेसे शास्त्रोंके कई सिद्धांतोंका पता लग सकता है और उसके मूल कारणका भी विचार स्थिर हो सकता है । ब्राह्मणका उपनयन वसंत ऋतुमें करना चाहिए, इस स्मृति और सूत्र ग्रंथोंकी आज्ञाका कारण उक्त संबंधमें है । तथा ब्राह्मणादि ग्रंथोंमें "ब्राह्मण, अग्नि, वसंत ऋतु, गायत्री छंद, रथंतर साम, त्रिवृत् स्तोम, ऋग्वेद, प्रातःकाल" आदिकी शृंखला लिखी होती है । इस शृंखलाका संकेत भी इस लेखसे व्यक्त हो सकता है । आशा है कि पाठक इस वैदिक दृष्टिसे वेदके संकेतोंको जाननेका अवश्य यत्न करेंगे ।

पश्चिम दिशाकी विभूति ।

दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन करते हुए पूर्व लेखमें पूर्वदिशाकी वैदिक कल्पना बताई है, अब इस लेखमें पश्चिम दिशाकी कल्पना बताना है । वैदिक क्रम देखा जाय, तो पूर्व दिशाके पश्चात् दक्षिण दिशाका वर्णन आना योग्य है, और यह वैदिक दृष्टिसे ठीक भी है; क्योंकि उदयके मार्गके साथ साथ दाक्षिण्यका मार्ग चलना चाहिए । अभ्युदय और दक्षताका साहचर्य सनातन ही है । उदयकी इच्छाके साथ दाक्षिण्यका अवलंबन करनेकी आवश्यकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है । तथापि पूर्व और पश्चिम दिशाओंकी विभूतियां परस्पर सापेक्षताका संबंध रखतीं हैं, इस लिये वैदिक कल्पनाकी स्पष्टता होनेकी इच्छासे पूर्व दिशाका वर्णन होनेके पश्चात् पश्चिम दिशाका वर्णन करनेका संकल्प किया है । यह सापेक्षताका संबंध देखिए—

पूर्व	पश्चिम
उदय	अस्त (अस्तं–गृहं)
जन्म	मृत्यु (स्वरूप प्राप्ति)
प्रकाशका प्रारंभ	अंधकारका प्रारंभ
प्र–वृत्ति	नि–वृत्ति
पुरुषार्थ	विश्रांति
प्राची	प्रतीची
प्र+अंच्	प्रति+अंच्
Pro-gress	Rest, repose
Going forward	Turning inward
हलचल	शांति
जागृति	सुषुप्ति
दिन	रात्री

इन दो दिशाओंका परस्पर सापेक्ष संबंध देखनेसे वैदिक कल्पनाकी अधिक स्पष्टता हो जायगी। इस लिये क्रमप्राप्त दक्षिण दिशाका विचार न करते हुए पश्चिम दिशाका ही विचार यहां करना है। देखिए—

> प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिता
> ऽऽदित्या इषवः ॥ १ ॥
> प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षिता
> ऽन्नमिषवः ॥ २ ॥ अथर्व. ३।२७

प्राची दिशा, अग्नि अधिपति, असित रक्षिता और आदित्य इषु हैं। प्रतीची दिशा, वरुण अधिपति, पृदाकु रक्षिता और अन्न इषु हैं।"

दिशा	अधिपति	रक्षिता	इषु
पूर्व प्राची	अग्निः तेज	अ–सितः स्वातंत्र्य	आदित्याः प्रकाश
पश्चिम प्रतीची	वरुणः जल	पृदा–कुः उत्साह	अन्नं खानपान

'अग्नि' शब्द निरुक्तकारके मतसे 'अग्रणी' का भाव बता रहा है। अग्रेसर, धुरीण, नेता, चालक जो होता है वह अग्रणी कहलाता है। (अग्र-) अंतको (-नी) पहुंचाता है, इसलिये नेताका नाम अग्रणी होता है। उदयके मार्गके लिये तेजस्वी नेताकी आवश्यकता है, (अ-सितः) बंधन रहित अर्थात् जो स्वातंत्र्यसे पूर्ण होता है, वह उदयका रक्षक है और इस उदयकी दिशाके प्रकाश ही शस्त्र हैं।

पश्चिम शांतिकी दिशा है। इस शांतिकी दिशाका जलाधिपति वरुण स्वामी है, क्योंकि जलका ही गुण शांति है और वह वरुणके आधीन है। इसीलिये इसको वर अर्थात् श्रेष्ठ कहते हैं। अथवा 'वर' शब्द गौणवृत्तिसे उदकवाचक भी है, जिसके पास 'वर' अर्थात् उदक है, वह वरुण कहलाता है। जलाधिपतिका संबंध अन्नके साथ होना स्वाभाविक ही है। जलके विना अन्नकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। अन्नका भोजन करनेसे क्षुधाशांति और जलका पान करनेसे तृषाशांति होती है, अर्थात् खानपानके कारण प्राणियोंके अंदर परिपूर्ण शांति होनेके कारण उत्साह बढता है। इस प्रकार इस दिशासे जनताकी शांतिका संबंध है। तथा—

प्राच्यां दिशि अग्निरिषवः ॥ १ ॥
प्रतीच्यां दिशि आप इषवः ॥ ३ ॥ अथर्व. ३।२६

"पूर्व दिशामें अग्नि इषु और पश्चिम दिशामें जल इषु हैं।" तेजसे जलका जो संबंध है वह ही अग्निका वरुणके साथ है। तेजसे हलचल होती है और जलसे शांति मिलती है। अग्निकी ऊर्ध्व गति है और जलकी निम्न गति है। इसी प्रकार पूर्व दिशासे उदय और पश्चिम दिशासे अस्त होता है। अब इस दिशाका व्यक्तिके शरीरमें क्या संबंध है, इसका पता लगाना है। देखिए—

प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि ॥ ७ ॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेहि ॥ ८ ॥ अ. ४।१४।८

"पूर्व दिशामें अजका मस्तक और पश्चिम दिशामें इसका गुह्यभाग रखो।" अर्थात् व्यक्तिके देहमें भी पश्चिम दिशाका संबंध पूर्व दिशासे विरुद्ध ही है। यदि पूर्व दिशासे सिरका संबंध है तो गुह्य भागसे पश्चिम

दिशाका संबंध है। सिरसे विचार और ज्ञानकी उत्पत्ति होती है तो गुह्य इंद्रियसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। इस लिये निम्न मंत्रमें पश्चिम दिशाका संबंध प्रजाओंसे लगाया है—

> प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपं साम ॥
> सप्तदश स्तोमो वर्षाऋतुर्विड् द्रविणम् ॥ य. १०।१२

"पश्चिम दिशामें आरोहण करो, यहां जगती तेरा रक्षण करे, यहां वैरूप साम, सप्तदश स्तोम और वर्षा ऋतु हैं। इस दिशामें (विश्) प्रजा ही धन है।" इस पश्चिम दिशाका वर्षाऋतु है, इसका कारण स्पष्ट ही है कि जलका इसके साथ संबंध है जो पूर्व स्थलमें बताया है। ऋतुओंमें जलका ऋतु वर्षा ही है। वेदमें जलका नाम "रेतः" है और 'रेत' ही प्रजनन का हेतु है। इस लिये पश्चिम दिशासे 'प्रजा' का संबंध माना गया। व्यक्तिमें गुप्त भागका संबंध भी प्रजननसे है इस लिये वैयक्तिक देहमें पश्चिम दिशा गुप्त इंद्रिय माना गया है। इस विवरणको देखनेसे पाठकोंको इस बातका अनुभव होगा कि वेदमें कितना सूक्ष्मसे सूक्ष्म संबंध देखना होता है। कई स्थानपर यह संबंध श्लेषार्थसेभी लिया जाता है। जैसा कि 'जल और रेत' शब्दोंमें ऊपर पाठक देख सकते हैं। इस प्रकार व्यक्तिमें और जनतामें पश्चिम दिशाका रूप हमने देखा। तथा—

> प्रतीचीं दिशामियमिद्वरं यस्यां सोमो
> अधिपा मृडिता च ॥
> तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथा
> मधा पक्वान् मिथुना संभवाथः ॥ अथर्व. १२।३।९

"पश्चिम दिशामें सोम अधिपति और सुख दाता है।" यहां सोम शब्द चंद्रमा और वनस्पतिका बोध करता है। चंद्रमाका जलसे संबंध माना है और वनस्पतियोंका जलके साथ संबंध है ही। पूर्वोक्त मंत्रमें पूर्व दिशामें आदित्य है और इस पश्चिम दिशामें वरुण है। तथा पूर्व दिशामें सूर्य और पश्चिममें चंद्र माने हैं। यहां चंद्र और वरुणकी एकता प्रतीत हो रही है। कदाचित् एक भावसे इस प्रसंगमें ये दोनों शब्द प्रयुक्त हुए होंगे। जैसा देखिए—

सूर्या-चंद्रमसौ
मित्रा-वरुणौ
अग्नी-षोमौ
इंद्रा-सोमौ
प्राण-रयी
पुरुष-स्त्री
अग्नि-जल

इनमें एक देवता तैजस है और दूसरी आप् तत्वके साथ संबंध रखनेवाली है। इस संबधको देखनेसे पूर्वोक्त मंत्रोंके शब्दोंका गंभीर भाव स्पष्टतया व्यक्त हो सकता है। अब पूर्वोक्त मंत्रमें "मिथुन और संभव" शब्द आगये हैं 'मिथुन' शब्द द्वारा स्त्री पुरुष शक्तियोंका संयोग व्यक्त हो रहा है और इस संयोगसे ही प्रजननका संभव होता है। 'सभव'का अर्थ ही प्रजाकी उत्पत्ति है। इस प्रकार वैदिक पदोंका परस्पर सूक्ष्म संबंध है। एक विषयके सब मंत्र इकट्ठे रखकर उनके पदोंका परस्पर अनुसंधान करनेसे इस सूक्ष्म संबंधका ज्ञान होता है। जो मत्र पूर्व स्थलमें दिये हैं उनका व्यक्तिमें, जनतामें और जगत्में संबंध बतानेके किये निम्न कोष्टक किया है। पाठक इसमें पूर्वोक्त मंत्रोंका संबंध देख सकते हैं।

	व्यक्तिमें	जनतामें	जगतमें
पूर्व	सिर विचार	ब्राह्मण ज्ञान	आदित्य, अग्नि प्रकाश, वसंत
पश्चिम	गुह्य भाग सुख, भोग, भोजन	गुप्त, विश वैश्य धन	चंद्र, आप अन्न-वनस्पति
	मिथुन वीर्य, रेतः सं-भवन	स्त्री पुरुष वीर संतान सं-तति	अग्नीषोमौ वर्षा सृष्टि

इस कोष्टकके कई शब्द पूर्व मंत्रोंमें हैं और कई नहीं हैं । जो नहीं हैं वे स्पष्टीकरणके लिये रखे हैं । इस प्रकार व्यक्तिमें जनतामें और जगत्में पश्चिम दिशाका रूप है ।

अब पश्चिम दिशाकी विभूति देखिए–व्यक्तिके देहमें गुह्य भाग, आयुमें तारुण्यकी अवस्था, दिनमें सायंकालका समय, दिनको पुरुष मानीए और वह दिन अपनी स्त्री रात्रीके साथ मिलने जाता है, यही दिन और रात्रीका मिथुन है, इसी प्रकार स्त्री पुरुषका मिथुन होता है, इस लिये तारुण्यावस्था पश्चिम दिशा है, चोवीस घंटेका अहोरात्र अथवा पूर्ण दिवस होता है, उसमें १२ घंटे व्यतीत होते हैं, वह आयुकी मध्यम अथवा तारुण्यावस्था है, इस समय सूर्य विश्रामके लिये पश्चिम दिशामें जाता है । ऋतुओंमें वर्षा ऋतु, महिनोंमें श्रावण भाद्रपद, कालोंमें पर्जन्य काल, वर्णोंमें वैश्य वर्ण, आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम, पुरुषार्थोंमें काम, युगोंमें द्वापर युग, अवस्थाओंमें सुषुप्ति इत्यादि पश्चिम दिशाकी विभूति है । इसका विचार और आंदोलन करके इस गणनामें न्यूनाधिक करना उचित है । साधारणतया थोडासा रूप यहां वर्णन किया है ।

पश्चिम दिशाको इस प्रकार आप अमूर्त और व्यापक मानिए । एक विशेषभाव इस शब्दसे ध्यानमें लाना है । साधारण लोक पश्चिम दिशासे सूर्यास्त होनेकी दिशा समझते हैं, परंतु इससे कई गुणा उच्च और व्यापक अमूर्त भाव वेदमें है, जिसका ज्ञान होनेके विना दिशा बोधक वैदिक मंत्रोंके शब्दोंका आशय समझमें ही नहीं आवेगा ।

'प्रति+अंच्' धातुसे 'प्रतीची' शब्द बनता है । इसका धात्वर्थ पीछे हटना, निवृत्त होना, अंतर्मुख होना, विश्रामकी तैयारी करना इत्यादि प्रकार होता है । सूर्य दिनभर प्रवृत्ति रूप कार्य करनेके पश्चात् विश्रामकी तैयारी करके पश्चिम दिशाका आश्रय करता है । मानो कि सब जगत्को दिनभर प्रकाश देनेके पश्चात् विश्रांतिके लिये अपने घर आता है, और रात्रीके साथ संलग्न होता है । इसी हेतुसे रात्रीको 'रमयित्री' अर्थात् रमण करनेवाली कहा जाता है । पुरुष भी इसी प्रकार दिनभर अपने सब व्यवहार करता हुआ जब थक जाता है तब घर आकर अपनी पत्नीके

साथ रहता हुआ शांति पाता है। सूर्य तपता है इसलिये तपस्वी है, यह तप उसका ब्रह्मचर्य है, इस ब्रह्मचर्य व्रतके पश्चात वह रात्रीके साथ रममाण होनेसे गृहस्थी बनता है, यही उसका पश्चिम दिशाका कार्य है। इधर ब्रह्मचर्याश्रममें नियमों और व्रतोंके कारण तपनेवाला ब्रह्मचारी भी गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर शांत होता है, यही व्यक्तिका पश्चिम दिशाका कार्य है। वर्णोंमें ब्राह्मण वर्ण यमनियमोंसे तप करता है, यह ब्राह्मण वर्ण तपस्याके लिये ही है। परंतु वैश्य वर्ण शांतिसे घरमें रहता, पैसे कमाता और आनंद पाता है। न तो इस वर्णको ब्राह्मणके समान तपस्याके कष्ट हैं और न क्षत्रियके समान युद्धके दुःख हैं। शांतिके साथ गृहसौख्य भोगनेके कारण यह वैश्य वर्ण चातुर्वर्ण्यमें शांति और विश्रामका अतएव पश्चिम दिशाका स्थान है। ऋतुओंमें वसंत और ग्रीष्म उष्णतासे तपनेवाले हैं, परंतु वर्षाऋतुमें सर्वत्र शीत जलकी वृष्टि होनेसे नदी नद तालाव और कूए जलसे परिपूर्ण होनेके कारण, सर्वत्र कृषिका प्रारंभ होनेसे सब भूमि हरयावलसे सुंदर और शांत दिखाई देती है, इसलिये ऋतुओंमें वर्षा ऋतु पश्चिम दिशाकी विभूति मानी है। इसी दृष्टिसे अन्यत्र देखिए और सर्वत्र पश्चिम दिशाकी विभूति जाननेका यत्न कीजिए। इस प्रकारकी भावना पश्चिम दिशाके वैदिक मंत्रोंमें है, इसलिये इसकी यथावत् कल्पना होनेसे ही मंत्रोंका आशय हृदयमें विकसित हो सकता है।

पूर्व लेखमें पूर्व दिशाकी विभूतियां लिखीं और इस लेखमें पश्चिम दिशाकी लिखीं हैं। इनको देखनेसे पाठकोंको विदित हो सकता है, कि "प्राची, प्रतीची" आदि शब्दोंके अर्थ "पूर्व पश्चिम (East, west)" आदि करनेसे वह आशय प्रकट नहीं हो सकता कि जो वेदमंत्रोंके गर्भमें है। तथा अंग्रेजी हिंदी अथवा इतर भाषामें जो वेदके भाषांतर हैं, वे कितने अपूर्ण और सदोष हैं, तथा वेदका आशय कितना व्यापक और विस्तृत है इसकी भी यहां पाठक कल्पना कर सकते हैं।

उत्तर दिशाकी विभूति।

पूर्व दो लेखोंमें 'पूर्व और पश्चिम' दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन किया गया। उसी क्रमानुसार इस लेखमें उत्तर दिशाका विचार करना

और उस दिशाकी विभूतियोंका स्वरूप अवलोकन करना है। पश्चिम दिशाके पश्चात् क्रम प्राप्त 'उत्तर' दिशा है। उत्तर दिशाका भाव निम्न प्रकार देखा जा सकता है—

उत्तर	उदीची
उत्–तर	उत्–अंच्
उच्च–तर	उच्च–गति

(उत्) उच्चतासे (तर) अधिक जो भाव होता है, वह उत्तर किंवा उच्च–तर शब्दसे बताया जा सकता है। उच्चताकी दिशा, अधिक उच्चताके भावकी दिशा (Direction of betterment) यह इस शब्दका आशय है। जिस प्रकार पूर्व दो लेखोंमें बताया गया है कि '**प्राची और प्रतीची**' दिशा क्रमशः '**प्रगति और विश्राम**' की सूचक दिशा है, उसी प्रकार समझिए कि यह 'उदीची' दिशा उच्चगतिकी सूचक है, व्यक्तिके शरीरमें यह उत्तर दिशा 'बायी बगल' के साथ संबंध रखती है, इसविषयमें मंत्र देखिए—

उत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम्। अथर्व. ४।१४।८

'उत्तर दिशामें अजकी (उत्तरं पार्श्व) बायी बगल रखो' अर्थात् जगत्में जो उत्तर दिशा है, उसका शरीरमें संबंध बायीं बगलसे है। शरीरके इस उच्च अंगमें हृदयका स्थान है, और मनुष्यके शरीरमें जो आत्माका स्थान है, वह इस हृदयमें ही है। जिसका जैसा हृदय होता है, वैसा ही मनुष्य बनता है। अर्थात् मनुष्यका जो भावना और भक्तिमय भाग है, वह सब उत्तर दिशामें अथवा उसके बायी बगलमें है। इस उत्तर भागका अथवा बाये अंगका बिगाड होगया तो सब प्रकारके मनुष्यत्वका बिगाड हो जाता है। इस दृष्टिसे वह मुख्य और श्रेष्ठ अंग है। इस अपने शरीरमें उच्च दिशाका अनुभव करनेसे ज्ञात हो सकता है कि, यदि उच्च गति प्राप्त करना है, तो इस हृदयकी परिपक्वता करना चाहिए। हृदयकी भावना पवित्र होनेसे ही सब कुछ पवित्रता हो सकती है। देखिए इस की सूचना अन्य मंत्रमें किस प्रकार दी है—

उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताऽशनिरिषवः ॥
अथर्व ३।२७।४

'(१) उत्तर दिशा, (२) सोम अधिपति, (३) स्वज रक्षिता और (४) अशनि इषु हैं ।' सोम अर्थात् चंद्रमाका हृदयके साथ संबंध कवियोंद्वारा वर्णन हुआ है । हृदयही मानस सरोवर है, और इस सरोवरकी लहरियां ही चित्तवृत्ति नामसे प्रसिद्ध हैं । चंद्रके उदय होते ही सरोवरों और सागरोंके लहरियों अर्थात् वृत्तियोंकी अभिवृद्धि होती है । चंद्रोदयसे सागर उछलने लगते हैं, उसी प्रकार यहां हृदयमें भी आत्माका प्रेम उत्पन्न होनेसे आनंदके महासागरमें भरती हो जाती है, अर्थात् परमात्माकी भक्तिसे हृदयका सागर उछलने लग जाता है । यह बात भक्तोंका प्रेम जिन्होंने देखा है, उनको स्पष्ट हो सकती है । यहांका 'सोम' शब्द 'आत्मा और चंद्रमा' का समानतया वाचक है ।

सोम (स+उमा)	सोम
आत्मा	चंद्रमा
षोडशी (षोळशी) इंद्र	षोडशकलायुक्त चंद्र
षोडशकलः पुरुषः	सोलह कलाओंसे युक्त चंद्र
अंतःकरण	अंतरिक्ष स्थान
हृदयस्थान	मध्यम स्थान
मानस	मानस सरोवर (सागर)

इस कोष्टकसे चंद्रमा और आत्माकी समानता ज्ञात हो सकती है । इसी दृष्टिसे वेदमें सोम शब्द जीवात्मावाचक भी आता है । जीवात्मामें उत्पत्ति वर्धन और क्षय शारीरिक अवस्थाओंके कारण जैसी दिखाई देती हैं, उसी प्रकार चंद्रमामें भी प्रतिपदामें उसकी नवीनता, शुक्लपक्षमें वृद्धि, कृष्णपक्षमें क्षय और अमावास्यामें नाश दिखाई देता है । काव्य दृष्टिसे यह अवस्थाओंकी समानता है । इस समानताकी कल्पना मनमें धरकर ही वेदका वर्णन पढना चाहिए ।

शरीरमें बायी बगल उत्तर दिशा है, इसमें भी हृदय मुख्य है इसका आत्मा अधिपति है । अंगुष्ठमात्र पुरुष हृदयमें रहता है, यह उपनिष-

दोंका वर्णन यहां देखने योग्य है। इसका 'स्वजः' रक्षिता है। 'स्व-ज' शब्द स्वत्वसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिका बोधक है। आत्मत्वकी स्वकीय-शक्तिसे यहांका रक्षण होता है। बाहेरकी शक्तिसे यहांका कार्य होना ही नहीं है। आत्माकी निज शक्तिका ही प्रभाव यहां होना आवश्यक है। आत्माके प्रेमसे तथा परमात्माकी भक्तिसे हृदयके शुभमंगलमय होनेकी संभावना यहां स्पष्ट हो रही है।

यहां निवारक शस्त्र 'अशनि' है। 'अशनि' विद्युत्का नाम है। विद्युतका और चंद्रमाका मनके साथ संबंध उपनिषदोंमें तथा वेदमें जोडा है। देखिए—

> चंद्रमा मनसो जातः॥ यजु. ३१।१२
> यदेतद्विद्युतो व्यद्युतद्······इत्यधिदैवतं॥ २९॥
> अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनः······॥ ३०॥
> केन उप. ४

'मनके स्थानपर चंद्रमा है' यह वेदका कथन है। और 'जो अधिदैवतमें विद्युत है, वह ही अध्यात्ममें मन है' यह उपनिषदका विधान है। व्यक्तीमें जो मन है वह ही जगतमें विद्युत् है। इस प्रकार मन, हृदय, चंद्रमा और विद्युतका परस्पर संकेत संबंध है। उत्तर दिशाके इषु अशनि है, अर्थात् मनही उत्तर दिशाके इषु हैं। क्योंकि मनके शुभसंकल्पोंसे ही हृदयकी भावनाओंकी पवित्रता हो सकती है। इस प्रकार 'उदीची, सोम, स्वज, अशनि' इन शब्दोंके व्यक्ति गतभाव हैं। बाह्य जगत विषयके इनके अर्थ स्पष्ट ही हैं। तथा—

> ये स्थां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यंतो नाम
> देवास्तेषां वात इषवः॥ अथर्व, ३।२६।४.

उत्तर दिशाका वात के साथ संबंध इस मंत्रमें जोडा है। वात नाम वायुका है और जो बाह्य जगत्में व्यापक वायु है वही शरीरमें प्राण है। अर्थात् शरीरकी उत्तर दिशाके साथ वातशब्दसे प्राण ही लेना चाहिए। तात्पर्य बाह्य जगत्में वात और शरीरमें प्राण इषु हैं। पाठक

विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा, कि शरीरमें शत्रु विध्वंसनका जो युद्ध हो रहा है, वह प्राणरूपी इपुओं द्वारा ही हो रहा है। नासिका द्वारा जो प्राण अंदर जाता है, वही शरीरके शत्रुओंका नाश करता है। प्राण ही रुद्र होनेसे रुद्रके इपुओंका वर्णन वेदमें अनेक स्थानपर आता है वह बहुत अंशमें प्राणपर ही है। इस दृष्टिसे वहांके इपु शब्द प्राणवाचक ही समझना उचित हैं। इसी अर्थका समर्थन करनेके लिये उक्त मंत्रमें 'प्र विध्यन्तः' शब्द आया है। बाहेरके युद्धमें बाणोंसे वेध होता है और हृदयके क्षेत्रपर जो युद्ध होता है, वहां प्राण ही बाण होते हैं। आशा है कि पाठक इस दृष्टिसे वेदके मंत्र देखेंगे। अब यहां निम्न मंत्र देखिए—

उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वावतु वैराजं सामैकविंश
स्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम्॥ यजु. १०।१३.

"(उदीचीं) उच्चगतिकी दिशापर आरोहण करो, वहां अनुष्टुप् तेरा रक्षण करे, वैराज साम, एकविंशस्तोम और शरदृतु इस दिशासे संबंध रखते हैं, यहां (द्रविणं) धन ही फल है।" इस मंत्रद्वारा उत्तर दिशाके साथ इन पदार्थोंका संबंध प्रकट हो गया है। उत्तर दिशाके साथ शरदृतुका संबंध है। अनुष्टुप् छंद वैराज साम आदिका संबंध पहिलेसेही हमारे समझमें नहीं आया है, इस लिये यहां इस विषयमें कुछभी लिखा नहीं जा सकता। उच्चतर होनेकी दिशाका संबंध (द्रविण) धनके साथ लगाया है वह स्पष्ट ही है, क्यों कि धनके सहायके विना अभ्युदय विषयक प्रगति होना अशक्य है। धनके साथ संबंध कारीगरोंका है, इस लिये इस दिशाके साथ कारीगर वर्गका संबंध प्रतीत होता है। शरदृतुके साथ भी धान्य उत्पन्न होनेके कारण तथा फलनिष्पत्तिका संभव होनेके कारण 'धनोत्पादक कारीगर' वर्गका इस दिशाके साथ संबंध ठीकही प्रतीत हो रहा है। यही उत्तर दिशा राष्ट्रमें कौनसी है, देखिए—

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तराविदिशामुदीचीं कृणवन्नो
अग्रम्॥ पांक्तं छंदः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वांगैः
सह संभवेम॥ १०॥ अथर्व १२।३.

"(उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरावित्) उत्तर दिशा सदाही विजयकी राष्ट्रीय दिशा है। इस लिये (नः) हम सबको (अग्रं) अग्र भागमें बढनेकी इच्छा धारण करते हुए इसी उच्चतर दिशासे प्रयत्न करना चाहिए। (पांक्तः) पांच वर्णोंमे विभक्त (पुरुषः) नागरिक जनही इसका छंद है। इसलिये सब अंगोंके साथ हमसब (सह संभवेम) मिलकर रहें, अर्थात् एकतासे पुरुषार्थ करें।"

राष्ट्रमें उच्च होनेकी भावनाही उत्तर अर्थात् उच्चतर दिशा (Direction of betterment) है। इस दिशासे प्रगतिका साधन और अभ्युदयके मार्गका अवलंबन करनेवाले राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यके अंदर यह भावना चाहिए, कि मैं (अग्रं) अग्रभागमें पुरुषार्थ करता हुआ पहुंच जाऊंगा। मैं कभी पीछे नहीं रहूंगा। राष्ट्रमें पांच वर्ण होते हैं, ज्ञानके कारण ब्राह्मणोंका श्वेतवर्ण, क्षात्रके कारण रजोगुण प्रधान क्षत्रियोंका रक्त वर्ण, बैठकर कार्य करनेवाले धनसंग्रह करनेवाले वैश्योंका पीत वर्ण, करीगरोंका अर्थात् सच्छूद्रोंका नीलवर्ण और असच्छूद्र जंगलियोंका कृष्ण वर्ण होता है। सब जनता इन पांच वर्णोंमें विभक्त है, इसलिये पंचजनोंके राष्ट्रका वैदिक नाम 'पांच-जन्य' है। 'पांच-जन्यका महानाद' ही जनताका सार्वजनिक मत (Public voice) हुआ करता है। जो पुरि अर्थात् नगरीमें वसते हैं उनका नाम पुरुष अर्थात् नागरिक होता है। (पुरि-वस, पुर्-वस, पूर्-उष, पुरुष) ये पुरुष अर्थात् नागरिक पहिले चार वर्ण हैं, और पांचवा निषाद वर्ण नागरिकोंसे भिन्न है, इसलिये कि वह जंगलमें रहता है। जंगल निवासी भी राष्ट्रके अवयव हैं, जैसे नागरिक होते हैं। इसलिये 'पांच-जन्य' राष्ट्रमें सब लोक आते हैं। जिस प्रकार वैदिक राष्ट्रीय पांचजन्यकी कल्पनामें सब पांचों प्रकारके जनोंका अंतर्भाव होता है, उस प्रकारका 'पांच-जन्य राष्ट्र' का अर्थ और आशय बतानेवाला शब्द किसी अन्य भाषामें नहीं है। इससे पता लगता है, कि वैदिक राष्ट्रीयताकी कल्पना कितनी उच्च और कैसी व्यापक है। सब अवयवों और अंगोंके साथ जब प्रेमरूप एकताका भाव होता है तभी राष्ट्रीय एकताकी अद्भुत शक्ति निर्माण होती है, जिससे राष्ट्रको उच्च

तर दिशाके अभ्युदयके मार्गसे जाना सुगम होता है । इस प्रकार उत्तर दिशाकी विभूति है ।

जगतमें जो उत्तर दिशा है वह सब जानते ही हैं, यही उत्तर दिशा व्यक्तिके शरीरमें बायी बगल है, राष्ट्रमें उत्तर दिशा धनोत्पादक कारीगर वर्ग है, ऋतुओंमें उत्तर दिशा शरदृतु है, महिनोंमें आश्विन कार्तिक मास हैं, वर्णोंमें सच्छूद्रोंका कारीगर वर्ग है, छंदोंमें अनुष्टुप् छंद, भावनाओंमें उच्च-तर होनेकी महत्वाकांक्षा है, इत्यादि प्रकार इस उत्तर दिशाकी विभूति है । इस दृष्टिसे सर्वत्र उत्तर दिशाकी विभूति देखकर पाठक बोध ले सकते हैं ।

दक्षिण दिशाकी विभूति ।

"दक्ष्" धातुसे "दक्ष, दक्षिण, दक्षिणा, दक्षता दाक्षिण्य" आदि शब्द बने हैं । इसीशब्दसे ग्रीक शब्द dexios, लातिन शब्द dexter, तथा इंग्लिश शब्द dexter, dexterity बने हैं । इन शब्दोंके अर्थ भी "दक्ष" शब्दके अर्थके साथ मिलते ही हैं ।

"दक्ष्" धातुका अर्थ-(१) बढना, विस्तृत होना, (२) शीघ्रताके साथ अच्छा कार्य करना, (३) मिलकर उत्तम कर्म करना, (४) योग्य और समर्थ बनना, (५) हलचल करना, आगे बढना, (६) चतुरताके साथ कार्य करना, (७) युक्तिसे शत्रुका पराभव करना और स्वकीयोंका रक्षण करना । ये ही अर्थ "दक्ष, दक्षता" आदि शब्दोंसे प्रकट होते हैं । जो अपने कर्तव्य बडी चतुरताके साथ उत्तम रीतिसे करता है उसको "दक्ष" कहते हैं, अपने कर्तव्य उत्तम रीतिसे करनेके गुणधर्मका नाम "दक्षता, दाक्षिण्य" है, चातुर्यके साथ उत्तम रीतिसे संपूर्ण कार्य करनेका वेतन "दक्षिणा" शब्द बतलाता है । सीधे हाथसे उत्तम कार्य किये जाते हैं इसलिये उस सीधे हाथको "दक्षिण हस्त" कहते हैं और सीधे अंगको "दक्षिण अंग" कहा जाता है । इसी कारण सीधे तरफकी दिशाका नाम "दक्षिण दिशा" है । पूर्व दिशाकी ओर मुख करनेसे उसके सीधी तरफ दक्षिण दिशा होती है । यही हेतु है कि यह दिशा चातुर्यकी दिशा समझी जाती है ।

दक्षिण दिशाका अधिपति "इन्द्र" है। (इन्+द्र) शत्रुओंका विदारण करनेवालेका नाम इंद्र होता है। (इदं+द्र) इसमें सुराख करके अपना मार्ग करनेवाला इंद्र होता है। ये सब अर्थ बढने, विस्तृत होने, मिलकर उन्नतिका कार्य करने, चतुरताके साथ हलचल करनेवालेके साधक ही हैं। शत्रुनिवारण करनेकी यह दिशा होनेके कारण इसमें वीर इंद्रकी ही निःसंदेह आवश्यकता है। यही कारण है कि "पितरों" का संबंध इस दिशाके साथ बताया जाता है। "पितर" (पातृ) संरक्षक होते हैं। अपनी शक्तिसे सबका संरक्षण करना पितरोंका कार्य है। इस दिशामें—

दक्षिणायां दिशि, अविष्यवो नाम देवाः,
तेषां काम इषवः॥ अथ. ३।२६।२

दक्षिणदिशामें "अविष्यु" नामक देव हैं और उनके इषु 'काम' हैं। इस मंत्रका "अविष्यु" शब्द पितर शब्दका ही भाव बता रहा है, देखिये—

पितरः=(पातारः) =रक्षण करनेवाले।
अविष्यवः=(अवनशीलाः)=रक्षण करनेवाले।

"पिता" शब्दका अर्थ "अविष्यु" ही है। "पिता"के साथ "काम" इषु होना ही स्वाभाविक है क्यों कि काम होनेके पश्चात् ही पितृत्व प्राप्त होना संभव है। जो कामविकारसे रहित होंगे उनको पितृत्व प्राप्त नहीं हो सकता। यद्यपि पितृत्वके साथ कामविकारका होना अत्यंत आवश्यक है, तथापि "सं-यम" अथवा "यम" भी अवश्यमेव पितृ शक्तियोंके साथ रहता ही है और पाठक विचार करेंगे तो उनको स्वयं ही पता लग जायगा कि "काम" के साथ "सं+यम" किंवा "यम" न रहेगा, तो बडा ही अनर्थ होगा। यही कारण है कि पितरोंके साथ ही यम रहता है, देखिये—

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथां।
…यमः पितृभिः …शर्म बहुलं नियच्छात्॥
अथर्व. १२।३।८

"पितरोंके साथ यम बहुत (शर्म) सुख देता है।" अर्थात् पितरोंके कामविकारके साथ यदि सं-यम न रहा तो बड़ा ही दुःख होगा। यह चातुर्यकी दक्षिणदिशा है, (नक्षमाणां) प्रगति करनेवाले और वृद्धि चाहनेवाले जो होंगे, उनको (परि+आवर्तैथां) आवर्तन अर्थात् पुनः पुनः प्रयत्न करना चाहिये, सिद्धि मिलनेतक पुरुषार्थ करना उचित है। इस प्रकार यह दक्षिणदिशा प्रयत्न और पुरुषार्थकी दिशा है। प्रत्येक देहमें—

दक्षिणायां दिशि दक्षिणं··पार्श्वम् ॥

अथ. ४।१४।७

"दक्षिण अंग दक्षिण दिशामें रहता है।" यही शरीरमें दक्षिणदिशाकी विभूति है। तथा—

दक्षिणां आरोह······ त्रिष्टुप् ······ग्रीष्मऋतुः···
क्षत्रं द्रविणम् ॥ य. १०।११

"दक्षिण दिशा, त्रिष्टुप् छंद, ग्रीष्म ऋतु, क्षात्रधन" इनका परस्पर संबंध है। अर्थात् छंदोंमें त्रिष्टुप्छंद, ऋतुओंमें ग्रीष्म ऋतु, धनोंमें क्षात्र-वीर्य ही दक्षिण दिशाकी विभूति है। दिनके समयमें दोपहरका समय, आयुमें वीरत्वके साथ रहनेवाला तारुण्य, महिनोंमें ज्येष्ठ और आषाढ मास, आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम, पुरुषार्थोंमें काम और अर्थ, भावनाओंमें वीरताकी भावना आदि सब ही दक्षिणदिशाकी विभूति है। पाठक उक्त प्रकार विचार करेंगे तो उनको अन्य स्थानकी विभूति भी विदित हो सकती है।

ध्रुव दिशाकी विभूति ।

"ध्रु" धातुका अर्थ "गति और स्थिरता" है। गतिके साथ स्थिरता, हलचलके अंदर शांति अथवा युद्धके अंदर भी स्वस्थताका भाव इस धातुमें है। "ध्रुव" शब्दमें भी उक्त भाव ही हैं। निश्चित, दृढ, मजबूत, अचल, स्थिर, हमेशा रहनेवाला, सनातन, निश्चयात्मक, सामर्थ्यवान्, आदि भाव इस शब्दमें हैं। मनुष्यकी उन्नतिमें इन गुणोंकी कितनी आवश्यकता है इसका वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं, क्यों

कि सब ही जानते हैं कि इन गुणोंके विना कोई किसी प्रकारकी भी उन्नति प्राप्त कर ही नहीं सकता।

शरीरकी स्थिरता और उन्नति प्राणिमात्रके पेटकी उत्तम अवस्थापर अवलंबित है। पेटकी पचन शक्ति उत्तम होनेपर शरीर ध्रुव अर्थात् दृढ और हमेशा रहनेवाला बन सकता है। इसलिये शरीरमें दक्षिणदिशाकी विभूति पेटही है, इसलिये कहा है कि—

ध्रुवायां ···पाजस्यं॥ अथ. ४।१४।८

"ध्रुव दिशामें पेट" है। शरीरकी सब स्थिरता, दृढता, शक्ति, वीर्य आदि सब पेटके व्यापारपर अवलंबित हैं। अथर्व सू. ३।२६ तथा ३।२७ में कहा है कि दक्षिणदिशाके इषु "औषधि और वनस्पति" हैं। शरीरके स्वास्थ्यकी दृष्टिसे यह बिलकुल ठीक है, क्यों कि साधारण दशामें औषधियां, वनस्पतियां, शाक भाजी, अन्न, फल फूल प्राप्त होनेपर ही मनुष्य जीवित रह सकता है और रोगोंको दूर कर आराम प्राप्त कर सकता है। अर्थात् मनुष्यकी हलचल और उसकी दृढताका साधन औषधि वनस्पतियांही है।

हेमन्त ऋतु ध्रुवदिशाकी विभूति है। ऋतुओंमें ऋतुमानकी दृष्टिसे हेमंत ऋतु ही स्थिर ऋतु है। न इसमें बडी गर्मी होती है, न बडी सर्दी है, न वर्षाका कष्ट है, सब प्रकारकी समता इसमें है, इसलिये इसको ध्रुव ऋतु कहते हैं। इस ध्रुव दिशाके विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

ध्रुवेयं विराड् ······देवी अदिते विश्ववारे··· ।
अथ. १२।३।११

"यह पृथिवी ही ध्रुवा है, यही (वि-राट्) विराट् दिशा है। यही विश्ववारा अदिति देवी है।" पृथिवीका नाम ही ध्रुवा है क्यों कि गतिके साथ स्थिरता इसमें है। यह भूमि स्वयं गतिमान् है परंतु स्थिर ही प्रतीत होती है। यह भूमि अदिति है क्यों कि यह अदन अर्थात् भोजन देती है। सब प्रकारके कष्टोंका निवारण करनेवाली यह भूदेवी है। ध्रुव दिशासे यह मातृभूमि ही बताई जाती है। मनुष्योंकी स्थिरता मातृभूमिके कारण ही होती है। मनुष्यजातीके वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय

हलचलोंका स्थान मातृभूमि ही है । मातृभूमिकी उपासना जो जाती योग्य दिशासे करेगी वही गतिमान, प्रगतिशील और स्थिर हो सकती है, वही जाति हमेशा रहेगी और अभ्युदय प्राप्त करेगी । इस प्रकार इस दिशाकी विभूति है ।

ऊर्ध्व दिशाकी विभूति ।

"ऊर्ध्व" शब्द उच्चताका बोध करता है। इसका अर्थ—"खडा, सीधा, बहादुर, खरा, सच्चा, आला, उच्च, ऊंचा, उच्च पदके योग्य, श्रेष्ठ, बहुमूल्य, पावन, उन्नत, कुलीन" आदि है । इस उच्चपदकी जो दिशा है वह ऊर्ध्व दिशा है । हरएक मनुष्य उच्चता बतानेके लिये अपना हाथ ऊपर ही उठाता है, आकाशकी ओर उच्चता है, यह कल्पना रूढ होनेके कारण आकाशकी तरफकी दिशा ऊर्ध्व दिशा कहलाती है ।

उच्चदिशाके साथ बृहस्पतिका संबंध है । सब बृहस्+पति अर्थात् ज्ञानपतियोंकी ही उच्चदिशा हो सकती है । तात्पर्य अज्ञानीकी उच्चगति होना सर्वथा असंभव है । अर्थात् जनतामें ऊर्ध्व दिशा ज्ञानी जन ही हैं ।

आकाशका नील और श्वेत वर्ण होता है, यही "श्वित्र" रंग संपूर्ण रंगोंमें ऊर्ध्व दिशा बताता है । इस कारण उच्च गति संपन्न महात्मा लोगोंका वर्णन "धवल यश" से होता है । धवलता, श्वेतता, शुभ्रता यह उच्चताकी सूचक है । निर्मलता करनेवाला जल वृष्टिसे प्राप्त होता है और वृष्टि ऊपरसे होती है, इसप्रकार उच्चता, निर्मलता और ऊर्ध्वताका परस्पर संबंध है । विभूति देखनेके लिये इतना ही सूक्ष्म संबंध पर्याप्त है ।

ऋतुओंमें ऊर्ध्व दिशाका सूचक शिशिर ऋतु है । शीतता, शीतलता आदिका द्योतक यह ऋतु है । शांति और शांतता इससे सूचित होती है । ऊपर शीतता है इसका अनुभव पहाडोंपर जाकर मिल सकता है । निम्न भूमिपर गर्मी रहती है परंतु पहाडकी चोटीपर सर्दी रहती है, इसप्रकार ऊर्ध्वताका शीतता अथवा शांतिके साथ संबंध है । महिनोंमें शिशिरऋतुके अनुकूल माघ फाल्गुन मास इस दिशाके सूचक हैं ।

प्राणीके शरीरमें ऊर्ध्व दिशा पृष्ठ वंश अर्थात् पीठकी रीढकी हड्डीमें है। देखिये—

ऊर्ध्वायां दिशि... आनूक्यं। अथ. ४।१४।८

"ऊर्ध्व दिशामें (आनूक्यं) पृष्ठवंश है।" इसकी सत्यता योगशास्त्रमें प्रत्यक्ष है। योगानुष्ठानसे जो ऊर्ध्वगति होती है वह इसी पृष्ठवंशसे होती है। प्राणायामादि साधनों द्वारा प्राणका प्रवेश इस पृष्ठवंशके नाडियोंमें होता है और जैसा जैसा नियमानुकूल अभ्यास हो जाता है वैसी एक एक उच्च भूमिका प्राप्त होकर, सबसे ऊर्ध्वगति ब्रह्मलोकमें अर्थात् सिरके स्थानमें हो जाती है। यही ब्रह्मसभा, देवसभा, इंद्रसभा आदि नामसे प्रसिद्ध है। मेरुपर्वतपर जो ब्रह्मसभा है वह यही है। तात्पर्य प्रत्येक मनुष्य देहमें पृष्ठवंश किंवा मेरुदंड जो पीठकी रीढ है वह इसप्रकार ऊर्ध्व गतिका सूचक है। पृष्ठवंशकी सबलता पर ही देहका सामर्थ्य है इत्यादि बातोंका यहां अनुसंधान पाठक कर सकते हैं।

इसप्रकार जहां जहां उच्चता, श्रेष्ठता, सरलता होगी वह ही ऊर्ध्व दिशाका स्वरूप समझना उचित है। इसप्रकार विचार करके इस दिशाकी विभूति पाठक जान सकते हैं।

छः दिशाओंकी विभूतियां देखनेके लिये पाठक छः दिशाओंके छः गुण मनमें धारण करें। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव, ऊर्ध्व इनके क्रमशः "प्रगति, दक्षता, विश्रांति, उच्चता, स्थिरता और सरलता" इन छः गुणोंका मनन करनेसे उक्त दिशाओंकी विभूतियोंका पता लग सकता है। जहां जहां इन गुणोंका जिस प्रमाणसे अस्तित्व होगा, उस प्रमाणसे वहां वहां उक्त दिशाओंकी विभूति समझनी चाहिये। सर्वत्र गुण साम्यसे ही विभूति पहचानी जाती है। इस रीतिसे सर्वत्र विभूति–योग देखनेका अभ्यास होनेसे वैदिक दृष्टि प्राप्त हो सकती है। इस दृष्टिके प्राप्त होनेसे अन्य देवताओंका विज्ञान होनेमें भी बडी सहायता हो सकती है, इसलिये इस विषयमें इतना विस्तारपूर्वक लिखा है।

शतपथमें दिशावर्णन।

इस विषयकी समाप्ति करनेके पूर्व शतपथका दिशावर्णन देखनेकी आवश्यकता है—

प्राची हि देवानां दिक्… ॥ ६ ॥ तस्मादु ह न
प्रतीचीनशिराः शयीत । नेद्देवानभिप्रसार्य
शया इति, या दक्षिणा दिक् सा पितॄणां,
या प्रतीची सा सर्पाणां, यतो देवा उच्चक्रमुः
सैषाऽहीना योदीची दिक् सा मनुष्याणां… ॥ ७ ॥

"देवोंकी पूर्व दिशा है, इसलिये पश्चिम दिशाकी ओर सिर करके सोना उचित नहीं है क्यों कि देवोंके सामने पांव फैलाकर सोते नहीं। दक्षिण दिशा पितरोंकी, पश्चिम दिशा सर्पोंकी और उत्तर दिशा मनुष्योंकी है।" यह वचन यहां इसलिये दिया है कि शतपथ ब्राह्मणके मतानुसार प्रत्येक दिशाके साथ कुछ विशेषता है यह इस वचनसे बताना है। पूर्व दिशाकी ओर पांव करके सोना नहीं चाहिये ऐसा उक्त वचनमें स्पष्ट कहा है, दक्षिण दिशाकी ओर पांव न करनेकी रूढि इस समयतक चली आती है। इसलिये विशिष्ट दिशाकी कुछ विशेपता ब्राह्मण ग्रंथकारोंके मनमें थी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। इससे यह अनुमान हो सकता है कि संध्या करनेके समय विशेष दिशाकी ओर मुख करनेका भी कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य ही होगा। पाठक इस विषयमें अधिक सोचें।

उपस्थान।

'उप–स्थान' का अर्थ 'समीपके स्थान पर बैठना' अर्थात् ईश्वरके पास होना, उपास्यके पास जा कर बैठना। परमेश्वर सर्वत्र है इस लिये यद्यपि सब लोक स्थानसे उसके पास ही हैं, कदापि दूर नहीं हो सकते, तथापि ज्ञानसे और मनकी भावनासे परमेश्वरके पास जानेका यहां तात्पर्य है। 'मैं अब परमेश्वरके पास पहुंचता हूं, अब मै दूसरे किसीके साथ संबद्ध नहीं हूं, केवल परमेश्वरसे मेरा मेल है।' इस प्रकार मनकी भावना अब करना चाहिए। मेरे चारों ओर अंदर बाहर परमात्मा है, उसके अभय स्थानमें मैं पहुंचा हूं, यही विचार इस समय मनमें धारण करना चाहिए। किसी प्रकारका संदेह न धारण करते हुए उक्त विचार मनमें करनेसे थोडे ही समयमें ऐसा अनुभव होने लगता है, कि मैं इस

जगत्से भिन्न स्थान पर पहुंच रहा हूं, और किसी अलौकिक अवस्थाकी प्राप्ति मुझे हो रही है। इस अवस्थामें यदि एक क्षणमात्र मनमें विकल्प आ जायगा तो फिर जागृतिकी अवस्था प्राप्त होती है। इस लिये मनसे विकल्प भावनाको हटानेका अवश्य यत्न करना चाहिए। और जहां तक हो सके वहां तक जगत्की भानका विस्मरण करनेका यत्न करना चाहिए। यह अवस्था प्रयत्नसे सुसाध्य है, परंतु जो मनुष्य इस संधि अवस्थाके समय अपनी तर्कशक्ति जारी रखेगा, उसको इस अभौतिक अवस्थाकी प्राप्ति असंभव है। 'मनसा परिक्रमा'के मंत्रोंद्वारा मानव जातिकी सेवा करनेका भाव दृढ होनेके पश्चात् ही परमेश्वरके पास उपासक पहुंचता है यह बात इस स्थान पर ध्यानमें रखने योग्य है।

इस अभौतिक अवस्थामें जानेके समय विविध प्रकारकी अकल्पित घटनाएं सन्मुख आ जाती हैं। परंतु उनका भी विचार छोडना चाहिए। उनका विचार करनेमे फिर वही जागृतिकी अवस्था आजाती है। जिस समय उपासक जागृतिका भान छोडता है, और सन्मुख आनेवाली अकल्पित घटनाओंका भी विचार नहीं करता, तब वह उच्च अवस्थामें पहुँचता है, कि जहाँ जानेसे उसको अभौतिक आनंदकी प्राप्ति होती है, और जिस अवस्थामें उसको समयका भान भी नहीं होता।

उपासनाका यही फल है। यह अवस्था प्राप्त करना हरएकका निसर्गसिद्ध अधिकार है। इसी अवस्थाकी प्राप्तिके लिये संध्या की जाती है। परंतु लोक समझते हैं कि केवल संध्याके मंत्र रटनेमात्रसे सब कार्यभाग हो सकता है। यह भ्रम है। संध्याके मंत्र कहने मात्रसे कभी कार्यभाग नहीं होगा। उसके लिये मनको प्रतिदिन (training) सुशिक्षित करना चाहिए। यही (training) संध्याके समय दिया जाता है। जो प्रयत्नसे अपने मनपर सुसंस्कार डालेगा वही उक्त अवस्थाका अनुभव प्राप्त कर सकेगा। संध्याका प्रदर्शन करनेवाले और केवल प्रचारार्थ संध्याका नाट्य करनेवाले न केवल पीछे रहेंगे परंतु नीचे गिरेंगे। यह बात हर एक धार्मिक मनुष्यको अच्छी प्रकार ध्यानमें रखनी चाहिए।

अब उपस्थानका प्रथम मंत्र देखिए। इस प्रथम मंत्रमें उक्त अनुभवका क्रम उत्तम रीतिसे बताया है। इस क्रमका विचार करनेसे पूर्व इस

मंत्रकी एक विशेषता बतानी है। यह मंत्र 'शब्द-चित्र' अथवा 'शब्दा-लंकार' का एक उदाहरण है। जो कहते हैं कि शब्दालंकार वेदमें नहीं है उनको यह मंत्र अवश्य देखना चाहिए। वेदमें इससे भी बढकर शब्दा-लंकार हैं, उनके उदाहरण देनेके लिये यहां स्थल नहीं हैं। इसी मंत्रमें 'उत्, उत्तर, उत्तम,' पदोंका स्थान देखिए, मंत्र पढनेके समय ये शब्द कितना आराम देते हैं, इसका विचार कीजिए, आरामके साथ साथ कुछ विशेष उच्च भाव की सूचना भी पाठकोंके मनमें उत्पन्न होती है यह भी यहां भूलना नहीं चाहिए। इससे पाठक जान सकते हैं कि यहां केवल 'शब्दचित्र' ही नहीं है अपितु साथ ही साथ अर्थालंकार भी है। शब्दकी विशेष रचनाके साथ अर्थका गौरव भी इसमें पाया जाता है।

इस मंत्रके प्रारंभमें 'उत्' पद है. मध्यमें 'उत्तर' पद है और अन्तमें 'उत्तम' पद है 'उत्, उत्तर, उत्तम' ये पद उन्नतिका क्रम बता रहे हैं। 'तर, तम' प्रत्यय एकसे दूसरेकी श्रेष्ठता बताते हैं। उक्त शब्द तीन अवस्था बता रहे हैं और एकसे दूसरी अवस्था श्रेष्ठ है।

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म
ज्योति 'रुत्तमम्' ॥

स्वः पश्यंत 'उत्तरम्' ॥

'उद्' वयं तमसस्परि

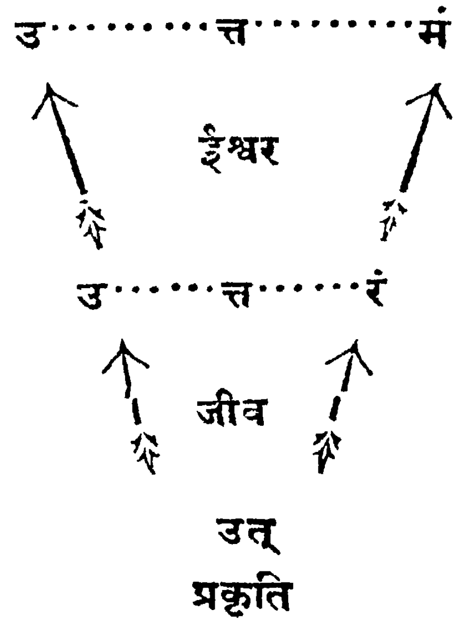

पूर्व स्थलमें जागृतिकी एक अवस्था बताई है। उपासना करते करते एक मध्यम अवस्था प्राप्त होती है, और पश्चात् तीसरी उच्च अवस्था प्राप्त होती है, ऐसा कहा गया है। उक्त तीन अवस्थाओंकी सूचना 'उत्, उत्तर, उत्तम' ये शब्द यहां दे रहे हैं। पहली साधारण अवस्था है, दूसरी मध्यम अवस्था है और तीसरी उत्तम अवस्था है। मंत्रमें उक्त तीन

शब्द तीन स्थानोंमें इसी लिये रखे हैं कि उपासकोंको प्राप्तव्य स्थानकी ठीक कल्पना आ जावे तथा उपासक बीचकी अवस्थामें ही न रहे क्यों कि वह बीचकी अवस्था है न कि उत्तम अवस्था। देखिए वैदिक शब्द रचनाकी गंभीरता कितनी अद्भुत है।

'वयं तमसः परि उत्' हम सब तम अर्थात् प्रकृतिके परे ऊपर चढें। यह मंत्रका पहिला कथन है। जागृतिकी अवस्थामें जो प्रकृतिकी चमक दीखती है उससे ऊपर उठनेकी सूचना यहां मिलती है। 'तमः' शब्द mental darkness, illusion मानसिक अंधकार, भ्रम, ignorance अज्ञान, प्रकृति आदिका द्योतक है। इससे ऊपर उठना चाहिए। प्राकृतिक जगत्का जो कुछ अनुभव है वही सब कुछ नहीं है, उससे श्रेष्ठ अनुभव भी हैं जो मानसिक अज्ञानके ऊपर उठनेसे प्राप्त हो सकते हैं। यहांका 'उत्' शब्द इस प्रकार ऊपर उठनेकी सूचना दे रहा है।

'उत्तरं स्वः पश्यन्तः।' अधिक उत्कृष्ट स्वात्म तेजका अनुभव लेते हुए ऊपर चढते हैं। वह मंत्रका द्वितीय कथन है। यह मध्यम अवस्था है। प्रकृतिके चमत्कारोंका भान इस अवस्थामें नहीं है, केवल स्वस्वरूपका अनुभव है। प्रकृतिकी जडता छूट गई है, आत्माकी तेजस्विता यहां प्राप्त हो गई है। यह अवस्था निःसंदेह 'उत्तर' अर्थात् अधिक उच्च है, परंतु सबसे उत्तम नहीं है, क्यों कि तेजके स्रोतके मूलमें हमें पहुंचना है, वहां तक हमारी गति नहीं हुई। यदि हम इस बीचकी अवस्थामें रहेंगे तो बीचमें ही रहेंगे, इस लिये यहांसे भी ऊपर ऊठना चाहिए।

'उत्तमं ज्योतिः अगन्म।' उत्तम अर्थात् सबसे श्रेष्ठ ज्योतीको प्राप्त करेंगे। यह तीसरा कथन है। पूर्व दोनों अवस्थाओंके पश्चात् जो श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होनेवाली थी वह यही है। 'सूर्यं देवं' सर्व प्रकाशक दिव्य आत्माके तेजकी प्राप्ति यहाँ होती है। सबसे उत्तम यदि कोई अवस्था है तो यही है।

इस अवस्थाकी प्राप्तिके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। क्यों कि यह अनुपम अवस्था है इसी लिये मंत्रमें इसका 'उत्तम'

शब्दसे वर्णन किया है। उपस्थान अथवा उपासना करनेके पश्चात् जो कुछ प्राप्त होना था वह यही है।

उपस्थानका द्वितीय मंत्र—'ज्ञानी लोक सबको ज्ञान देनेके लिये उस सर्वज्ञ दिव्य परमात्माका अनुभव लेते हैं।' यह भाव इस मंत्रका है। ज्ञानी गुरुजन ही परमेश्वरके सच्चे झंडे हैं।

'जात-वेदसं देवं' 'केतवः' ये शब्द परमात्माके द्योतक हैं। (जात) बने हुए पदार्थ मात्रको यथावत् (वेदसं) जाननेवाला जो देव होता है वह सर्वज्ञ परमेश्वर ही है। उसको 'केतवः' अर्थात् प्रज्ञावान् लोक उत्तम रीतिसे जानते हैं। अथवा ये अनुभव लेनेवाले महात्मा लोक ही उस परमात्माको दर्शानेवाले केतु अर्थात् झंडे हैं। जिस प्रकार पताकाएं अथवा झंडे उत्सव स्थानका बोध कराते हैं, उसी प्रकार महात्मा लोक, साधुसंत सज्जन ही उस दिव्य परमात्माके झंडे हैं अर्थात् उसके सूचक हैं। इस लिये परमात्माका ज्ञान उनके पास जानेसे प्राप्त हो सकता है। उनके प्रेमपूर्ण हृदय परमात्माका ज्ञान देनेके लिये अत्यंत योग्य हैं।

"भक्तोंके हृदय रूपी झंडे हैं कि जो ऊपर उठाये जाते हैं इस लिये कि सर्वज्ञ दिव्य परमेश्वरका स्वरूप सब लोकोंको ज्ञात हो।" यह आशय उक्त मंत्रका वास्तव रूपसे है।

उपस्थानका तृतीय मंत्र—'सब दिव्य पदार्थोंको बल देनेवाला, सब प्रकाशकोंका प्रकाशक, सबका अंतरात्मा मेरे अंतःकरणमें उदयको प्राप्त हो।' यह इच्छा इस मंत्रमें है। यही भक्तकी प्रबल इच्छा होती है। भक्तके अंतःकरणमें यदि कोई इच्छा होगी तो यही है। सब स्वार्थ की इच्छायें पीछे छोड कर परमात्माका सच्चा भक्त इसी एक प्रबल इच्छासे आगे बढता है उसकी सब सिद्धि इस इच्छाकी प्रबलता पर ही निर्भर है। इस समय उसको सर्वत्र परमात्माकी शक्ति दीख रही है। सब जगत्के अंदर जो मूल शक्ति है वह परमात्माकी आत्मशक्ति ही है, जो सूर्यके अंदर तेज स्थापन करती है, जिसने अग्निके अंदर प्रकाश रखा है। जलमें शीतगुण जिसने रखा है तथा जगत्के अन्य पदार्थोंमें भिन्न भिन्न गुण जिसने रखे हैं, वह परमात्माकी अद्वितीय शक्ति ही है। जिसके होनेसे

सबका अस्तित्व है और जिसके न होनेसे किसीका अस्तित्व नहीं हो सकता, इस प्रकार सर्व समर्थ और सबसे श्रेष्ठ जो परमात्मा है उसीका ध्यान, मनन और चिंतन करना योग्य है। तथा उसके अद्भुत अपार गुणोंको अपने अंदर धारण करना इस साधनका कार्य है।

उपस्थानका चतुर्थ मंत्र—अब यहां उपासक कहता है कि 'वह दिव्य पवित्र ज्ञान तेज मेरे अंदर उदित हो गया है।' उसको अब अनुभव होता है, कि उस परमात्माके तेजका अपने अंदर उदय हुआ है, वह पारमात्मिक तेज 'शुक्र' अर्थात् पवित्र और वीर्यवान अथवा बलवान है, और वही सच्चा 'चक्षु' अर्थात् ज्ञान नेत्र है। दिव्य दृष्टिका वही साधन है। मनुष्यकी एक साधारण लौकिक दृष्टि होती है, और दूसरी श्रेष्ठ दृष्टि उसको विशेष अभ्याससे प्राप्त होती है। वही श्रेष्ठ दृष्टि चक्षु शब्दसे यहां वर्णन की गई है। इस दिव्य चक्षुका खुल जाना ही संध्याका परम साध्य है।

जब उपासककी दिव्य दृष्टि खुल जाती है, तब वह कहता है कि (१) मैं सौ वर्ष जीवित रहकर उत्तम दृष्टिसे सब जगत्का निरीक्षण करूंगा, (२) सौ वर्षपर्यंत पूर्ण आयुका अनुभव लेता हुआ उत्तम पुरुषार्थ करता रहूंगा, (३) सौ वर्षपर्यंत अपनी श्रवण शक्तिसे उत्तम उत्तम उपदेशोंका ग्रहण करता रहूंगा, (४) सौ वर्षपर्यंत प्रवचन करता रहूंगा अर्थात् जो ज्ञान प्राप्त होगा उसका दान दूसरोंके हितके लिये करूंगा, (५) सौ वर्षपर्यंत अदीन अर्थात् बलवान् रहूंगा, दीनता मेरे अंदर कभी नहीं रहेगी; उत्साह वीर्य और बल मेरे अंदर सदा रहेगा, इतना ही नही परंतु (६) सौ वर्षसे अधिक आयु मैं प्राप्त करूंगा और उस अधिक आयुमें उत्तम उत्तम पुरुषार्थ करता रहूंगा।

इस प्रकारकी प्रबल पुरुषार्थकी इच्छा इस मंत्रमें यहां कही है। जब जीवात्मा उपासनासे निर्भय बनकर परमात्मामें ही विचरने लगता है तब उसके अंदर दीनता और हीनताके विचार कभी नहीं आ सकते। क्योंकि वह पूर्ण उत्साहमय परमात्म तत्वके साथ संमिलित हुआ होता है। निरुत्साह और दीनता उसके पास नहीं आ सकतीं। यह जीवात्मा अब

निर्भय, स्वस्थ, शांत, उत्साही पूर्ण पुरुषार्थी बन गया है। उसको अब कोई शक्ति नीचे नहीं गिरा सकती। क्षणभंगुरताके निरुत्साही विचार उसके पास अब नहीं आ सकते। पूर्ण निर्भयताके उत्साही विचार ही अब उसके पास स्थिर रह सकते हैं। उसमें अब इतना उत्साह होगा कि जो मनुष्य उसके साथ इस समय होगा वह भी उसीके अनुसार उत्साहमय हो सकेगा। इतना उसका प्रभाव हो सकता है। अब इस मंत्रके साथ संध्याके प्रारंभके मंत्रोंकी संगति देखनी है।

(१) पश्येम शरदः शतं।	चक्षुः। चक्षुः।	अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु।
(२) जीवेम शरदः शतं।	प्राणः। प्राणः।	नसोर्मे प्राणोऽस्तु।
(३) शृणुयाम शरदः शतं।	श्रोत्रं। श्रोत्रं।	कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु।
(४) प्रब्रवाम शरदः शतं।	वाक्। वाक्। कंठः।	वाङ्म आस्येऽस्तु।
(५) अदीनाः स्याम शरदः शतं।	बाहुभ्यां यशो बलं।	बाह्वोर्मे बलमस्तु। ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु। अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु।
(६) भूयश्च शरदः शतात्।		

इस कोष्टकसे पता लग जायगा कि अंतिम मंत्रके प्रतीकके साथ प्राथमिक वाक्योंका किस प्रकार संबंध है, और एक दूसरेके संबंधसे हरएक वाक्यका किस प्रकार अर्थ करना उचित है। चक्षुरादि अवयव उत्तम अवस्थामें मेरे शरीरमें सो वर्ष रहें इत्यादि प्रकारकी इच्छा जो संध्याके प्रारंभिक वाक्योंमें प्रकट की थी, वही संध्याके अंतिम मंत्रमें प्रकट हो गई है। इससे सिद्ध है कि बीचके प्रकरण भी दीर्घ आयु, उत्तम बल, श्रेष्ठ आरोग्य, अप्रतिम वक्तृत्व आदिका साधन करनेवाले हैं। इससे संध्याका उद्देश विदित होता है। ब्रह्मज्ञानका उद्देश अथर्व वेदने बताया है—

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्॥
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥ २९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा॥
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ ३०॥

अथर्व. १०।२

"जो उपासक भक्त अमृतसे वेष्टित ब्रह्मकी नगरीको जानता है, उसको ब्रह्म और (ब्राह्माः) ब्रह्मजनित इतर देवता चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं। चक्षुरादि इंद्रिय, प्राण अर्थात् आयु वृद्धावस्थाके पूर्व उसको नहीं छोडते जो ब्रह्मकी नगरीको जानता है।"

ब्रह्मज्ञानका फल यहां वर्णन किया गया है। (१) पूर्ण आयुकी समाप्ति तक उसकी इंद्रियाँ क्षीण नहीं होतीं, (२) उसकी दीर्घ आयु होती है, और (३) उसकी प्रजा उत्तम होती है। ये तीन फल ब्रह्मज्ञानके हैं। इस अथर्व वेद मंत्रका संबंध यहां लगा कर देखिए तो 'पश्येम शरदः शतं' यह भी ब्रह्मज्ञानीकी आकांक्षा प्रतीत होगी। अंतःकरणमें दिव्य ज्ञानचक्षुका प्रकाश होनेके पश्चात् उक्त इच्छा है अर्थात् ब्रह्मज्ञान होनेके पश्चात् उक्त इच्छा है।

वेदके धर्मसे हरएक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह दीर्घ आयुके लिये प्रयत्न करे। दीर्घ आयु, आरोग्य और सुसंतान ये तीन बातें ब्रह्मज्ञानीको सुरक्षित करनी चाहिये अथवा जो ब्रह्मज्ञानी होता है उसके लिये ये तीन बातें प्राप्त होती ही हैं।

गुरुमंत्र।

गुरुमंत्रके साथ 'ॐ भूर्भुवः स्वः' पद लगे हैं। इनका अर्थ 'सच्चिदानंद परमेश्वर' है। (भूः—सत्ता) सत् (भुवः=अवकल्पनं) चित्, चिंतन, कल्पना, (स्वः) आनंद (ॐ) परमात्मा। सच्चिदानंद परमेश्वरका ध्यान गुरुमंत्र द्वारा किया जाता है। सच्चिदानंद परमात्माही सबका एक सच्चा उपास्य है।

'उस सकल जगदुत्पादक ईश्वरके श्रेष्ठ तेजका हम सब ध्यान करतें हैं कि जो हम सबोंकी बुद्धियोंको प्रेरणा करता है।' यह गुरुमंत्रका आशय है। परमेश्वरकी प्रेरणा भक्तोंके अंतःकरणमें होती है, यह बात यहां लिखी है, सबसे यह बात मुख्य है। परमेश्वर-उपासनाका महत्त्व इसी बातमें है। परमेश्वरकी प्रेरणासे अंतःकरणोंकी शुद्धि होती है परंतु प्रथम ईश्वरकी प्रेरणाको धारणा करने योग्य अपना अंतःकरण बनाना चाहिए।

प्रेरक ईश्वर सबको प्रेरणा कर रहा है। शाश्वत कालसे उसकी प्रेरणा चल ही रही है, परंतु सब मुक्त नहीं हुए। यद्यपि गंगा बह रही है, तथापि वहां गंगामें जा कर शरीरकी शुद्धि करनेका पुरुषार्थ करना चाहिए। यद्यपि वायुका संचार सर्वत्र हो रहा है तथापि तंग मकानोंमें रहनेके कारण वायुका सेवन योग्य रीतिसे नहीं हो सकता। यद्यपि सूर्यका आयुष्य वर्धकप्रकाश सब जगत्‌में फैल रहा है तथापि घरोंकी विलक्षण रचनाके कारण उस सार्वभौमिक सूर्यप्रकाशसे कोई लाभ नहीं हो सकता। अर्थात् विश्वकी शक्तियां यद्यपि विश्वके लाभके लिये सर्वत्र फैल रही हैं, तथापि हम अपने आपको योग्य न बनानेके कारण उन शक्तियोंके लाभसे वंचित रहते हैं। वही बात परमात्माकी प्रेरणाके विषयमें समझनी चाहिए।

जिस प्रकार तंतुवाद्य की तारें, यदि एक स्वरमें मिल जायंगी तो एककी आवाज होनेसे दूसरीसे भी स्वयं आवाज होने लगती है। ठीक उसी प्रकार यदि हमारे मन बुद्धि और आत्मा उत्तम प्रकारसे शुद्ध और निर्दोष हो गये, तभी परमात्माकी प्रेरणाको ग्रहण कर सकते हैं; अन्यथा उस प्रेरणाका कोई परिणाम नहीं हो सकता। संध्याके पूर्व भागमें जो तैयारी करनेकी सूचना दी गई है वह इसी लिये है कि हमारे मन आदि परमेश्वरीय प्रेरणाको स्वीकार करने योग्य बनें।

उपस्थान तक जो विधिएँ हैं वे सब इसी लिये हैं। इस कारण पूर्वोक्त विधिके मंत्र केवल रटने मात्रसे इष्ट लाभ कदापि नहीं हो सकता। उन विधियोंमें जो जो बातें मुख्यतया कर्तव्य रूपसे रखी हैं उनको आचरणमें लानेकी अत्यंत आवश्यकता है। तभी चित्तकी योग्यता जैसी चाहिए वैसी हो सकती है और परमेश्वरकी प्रेरणा धारण करके आत्मोद्धार करनेकी योग्यता उपासकके अंतःकरणमें प्राप्त हो सकती है।

इस गुरुमंत्रके विवरणके विषयमें यजु. अ. ३६ की व्याख्या अर्थात् 'सच्ची शांतिका सच्चा उपाय' नामक पुस्तक पाठक देख सकते हैं।

गुरुमंत्रके जपके विषयमें अब यहां थोडासा लिखना आवश्यक है। गुरुमंत्रका जप करनेका विधान है। अर्थकी भावनाके साथ मंत्रका वारंवार उच्चारण करनेका नाम जप है—

तज्जपस्तदर्थभावनम् । योग दर्शन । १।२८

'मंत्रके अर्थकी भावना करना मंत्रका जप होता है ।' अर्थके मननमें मनको तल्लीन करना चाहिए । अर्थात् मनके अंदर अन्य कोई विचार नहीं आना चाहिए । केवल मंत्रके अर्थका मनन ही मनमें रहना चाहिए। मनन जैसा जैसा बढता जाता है, और मनकी भावना जैसी दृढ हो जाती है, वैसा ही एक प्रकारका रस उत्पन्न होता है, और असाधारण आनंद होने लगता है । मंत्रार्थका मनन करते करते अपने मनका प्रवेश उस अर्थके अंदर करनेका यत्न करनेसे उक्त रसकी शीघ्र उत्पत्ति होती है । जिस अर्थमें प्रथमतः कोई विशेषता प्रतीत नहीं होती, उसी अर्थमें मनकी तल्लीनता जब होने लगती है, तब विशेष गंभीरता प्रतीत होने लगती है; इसके पश्चात् जब अन्य सब विचार छूटने लगते हैं और केवल वही एक विचार मनमें स्थिर होने लगता है, तब पूर्वोक्त रसका अपूर्व आनंद प्राप्त होने लगता है ।

अर्थकी दृष्टिसे एकाग्रता करनेका यह ढंग है। शब्दकी दृष्टीसे मनकी एकाग्रता करनेका प्रकार भी यहां लिखना उचित है । प्रथमतः गुरुमंत्रका उच्चार खुली आवाजसे करना; पश्चात् उससे छोटी आवाजमें, उसके पश्चात् उससे कम आवाजमें, इस प्रकार बिलकुल मनमें जप करने तक गुरुमंत्रका उच्चारण करना । जब बिलकुल मनमें उच्चारण होने लगता है तब चित्तकी एकाग्रता हो जाती है । अर्थात् प्रारंभसे मनको उक्त मंत्रपर ही एकाग्र करनेका अभ्यास करना चाहिए । अन्यथा मनकी एकाग्रता साध्य नहीं हो सकती ।

मनमें मंत्रका उच्चार करनेकी रीति भी विचारपूर्वक ध्यानमें धरनी चाहिए । (१) मुख बंद करके अंदर ही अंदर मंत्रोच्चार करना, जो दूसरे किसीको सुनाई न दे परंतु स्वयं अपने आपको सुनाई देवे; यह एक रीति है । (२) दूसरा प्रकार ऐसा है कि जिह्वाका कोई अवयव बिलकुल न हिलाते हुए केवल मनसे ही मंत्रका उच्चार मनमें करना । परंतु ऐसा ख्याल करना कि मैं इन अक्षरोंका श्रवण कानसे कर रहा हूं । सचमुच इस प्रकार केवल मानसिक उच्चारणका श्रवण अपने कानोंसे हो सकता

है । कई यहां पूछेंगे कि जब अक्षरोंका बाहर उच्चार भी नहीं होता, उनका श्रवण कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर मैं नहीं दे सकता, परंतु मैं यह कह सकता हूं कि केवल मानसिक उच्चारणका स्पष्ट श्रवण अपने कानोंसे होता है । और जिस समय ऐसा श्रवण होता है उस समय मानसिक एकाग्रताकी पूर्व अवस्था प्राप्त होती है । इससे भिन्न तीसरा एक प्रकार है (३) गुरुमंत्रके अक्षरोंका मानसिक उच्चार करनेके समय उक्त अक्षर अपने बंद आंखोंसे देखनेका अभ्यास करना । जपके समय आंख बंद ही रहने चाहिए । बंद आंखोंसे अक्षरोंका दर्शन होना असंभव नहीं है । इतना ही यहां मैं कहता हूं । मनकी प्रबल इच्छासे कुछ अभ्यासके पश्चात् स्पष्ट अक्षर दिखाई देते हैं । इस प्रकार अक्षरोंके दर्शनसे मनकी एकाग्रता शीघ्र साध्य होती है ।

इस बातको यहां स्पष्ट कह देनेकी आवश्यकता है कि एक रीति एक उपासकको ठीक प्रतीत होगी, तो दूसरी दूसरेको अच्छी और सुगम प्रतीत हो सकती है । रीति और विधिकी सुगमता और कठिनता उपासकके मनकी अवस्था पर निर्भर है । कई अन्य रीतियां भी हो सकतीं हैं, परंतु ऊपर उतनी ही दी हैं कि जिनका अनुभव लिया गया है ।

गुरुमंत्रका जप कमसे कम तीन वार करते हे, परंतु केवल तीन वार करना आपत्कालके लिये ही समझना चाहिए । दसवार, अठाईस वार, एकसौ आठवार आदि प्रकारसे कई कहते हैं । इसमें मेरे विचारसे संख्याका महत्व नहीं है । जितनी वार चाहिए आप कर सकते हैं, परंतु जप करते करते ऐसी अवस्था प्राप्त होनी चाहिए कि जो अभौतिक अवस्था कही जा सकती है, जिस अवस्थामें जागृतिका भान हट जाता है और समयका विचार दूर हो जाता है । जब तक ऐसी अवस्था प्राप्त नहीं होती तब तक किया हुआ जप अभ्यास मात्र अथवा साधन मात्र समझना चाहिए । जब उक्त प्रकारकी अवस्था थोडी देर तक भी प्राप्त होगी, तब समझना चाहिए कि जपकी वास्तविक प्राप्तव्य भूमिका प्राप्त होगई है । इसके पश्चात् वह अवस्था देर तक रखनेका अभ्यास एकनिष्ठासे होना उचित है, अन्यथा प्राप्त भूमिकामें अवस्थिति नहीं हो सकती ।

गुरुमंत्रका जप करनेकी और एक रीति है । वह भी किसी समय कई-योंको बडी लाभ देती है । श्वास करते हुए एक वार मंत्रका जप करना, और उच्छ्वासके साथ एक वार मंत्रका जप करना । श्वास और उच्छ्वास आहिस्ते करते हुए शनैः शनैः मंत्रका जप क्रमपूर्वक करते रहना चाहिए। जिसका श्वास और उच्छ्वास इतना लंबा नहीं होता, उसके लिये इस प्रकार श्वासमय जप करना बहुत कठिन प्रतीत होता है । इस कारण ऐसे लोकोंके लिये यह जप नहीं है । परंतु जिनको प्राणायामका कुछ अभ्यास है और जिनके श्वास पर्याप्त दीर्घ होते हैं उनके लिये श्वासमय जपसे चित्तैकाग्र्य करना बडा सुगम होता है । इतना ही नहीं परंतु यदि इनका इस प्रकार जप अधिक होने लगेगा तो 'सूर्यचक्र' की स्वाधीनता प्राप्त होना बहुत सुगम होता है । नाभिस्थानके पास 'सूर्य-चक्र' है । जिसकी स्वाधीनता होनेसे बहुतही अच्छी और उच्च योगकी अवस्था प्राप्त हो सकती है । यह ग्रंथोक्त विषय है, अनुभवका नहीं है, इस लिये इस विषयमें अधिक लिखना असंभव है ।

कई लोक श्वासके साथ अर्थात् पूरकके साथ एक मंत्र, कुंभकके साथ एक मंत्र, तथा रेचक अथवा उच्छ्वासके साथ एक मंत्र, इस प्रकार प्राणायामके साथ तीन मंत्रोंका जप करते हैं; तथा कई ऐसे हैं कि पूरकके साथ एक, कुंभकके साथ चार और रेचकके साथ दो वार मंत्रका जप करते हैं । परंतु यह प्रकार बहुत कठिन और सबको साध्य होनेवाला नहीं है । इस लिये मेरा विचार है कि जब तक प्राणायामका अच्छा अभ्यास न हो तब तक कोई इन कठिन प्रकारोंका अभ्यास न करें ।

गुरुमंत्रका जप शनैः शनैः करना चाहिए । तथा जो मानसिक जप होता है उस समय बहुतही आहिस्ते करना उचित है । तथा जिस समय मानसिक उच्चारके साथ अक्षर दर्शन करना हो उस समय तो अत्यंत शनैः शनैः करना चाहिए । शीघ्रता करनेसे वैसा लाभ नहीं होता जैसा आहिस्ते आहिस्ते जप करनेसे हो सकता है ।

जप करनेके समय निम्न भावना मनके अंदर अवश्य धारण करनी चाहिए । (१) परमेश्वरकी अद्भुत शक्ति, (२) परमेश्वरकी सर्वोपरि सत्ता,

(३) परमेश्वरके ध्यानसे उच्च अवस्थाका प्राप्त होना, (४) परमेश्वरकी प्रेरणा प्राप्त करनेकी आतुरता, (५) परमेश्वरकी सर्व मंगलमयता, (६) संध्याके साधनसे परमेश्वरीय शक्तिकी प्राप्ति होनेका निश्चय । इन पर विश्वास रख कर जपका साधन करनेसे शीघ्र फल प्राप्त होता है ।

जिस दिन जपके समय मनकी एकाग्रता होती है उस दिन सब व्यवहार करनेके समय दिनभर एक प्रकारका अपूर्व उत्साह और आनंद प्रतीत होता है । वह दिन असाधारण प्रतीत होने लगता है । 'चित्तकी प्रसन्नता' ही इस सिद्धिका लक्षण है। निष्कारण प्रसन्नताका अनुभव होनेसे सब जान सकते हैं, कि संध्याके समय चित्तकी एकाग्रता हो गई थी ।

इस प्रकार चित्तकी एकाग्रता साध्य हो गई तो लौकिक व्यवहारमें भी बहुत लाभ हो सकता है । सब कार्य ठीक प्रकार और विना दोषके हो सकते हैं । सब कार्य शीघ्रताके साथ किये जा सकते हैं । तथा अन्य भी बहुतसे लाभ होते हैं कि जिनके कहनेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं । इस प्रकारकी प्रसन्नता प्राप्त होनेसे मनकी विलक्षण शांति रहती है, संसारकी आपत्तिसे मन विक्षिप्त नहीं हो सकता, इस लिये इसको उत्तम आरोग्य प्राप्त हो सकता है । अस्तु ।

नमन ।

उपासना कर्मकी समाप्ति हो गई । अब उपास्य परमात्म देवके लिये नमन करना है । सब कर्म नमस्कारसे ही सांग और पूर्ण होते हैं । परमेश्वरके लिये यदि हम कुछ अर्पण कर सकते हैं तो केवल 'नमन' ही अर्पण कर सकते हैं । नमन अर्थात् पूर्ण रीतिकी नम्रता । किसी प्रकार अहंकार, घमंड, गर्व, आदि भाव मनमें न रखते हुए, अपने सर्वस्वका परमात्माके लिये समर्पण करना नमनका तात्पर्य है । जो परमेश्वर सब कुछ जानता है, जिसके आधारसे सब कुछ हो रहा है, सबकी भलाईके लिये जो सब कुछ कर रहा है, पूछने और प्रार्थना करनेसे पहले ही जो सब कुछ कर रहा है, पूछने और प्रार्थना करनेसे पहले ही जो हम सबोंकी आवश्यकताएं जानता है, जो सर्वशक्तिमान, सर्वाधार, सर्वनियंता, सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ है, जिसने सब जीवोंकी उन्नतिके लिये यह सब संसार रचा है, जिसकी

अपार दया सब जीवोंपर एक जैसी फैल रही है, वह परमेश्वर ही सबका आश्रय और वंदनीय है इसमें क्या संदेह है ?

"जो शांतिका स्रोत, सबके सब प्रकारके दुःख दूर करनेवाला, जो सबका कल्याण करनेवाला और सबको सुख देनेवाला, जो स्वयं मंगलमय और कल्याणस्वरूप है, उसी परमात्माके लिये मैं पूर्णतासे आत्म-समर्पण करता हूं, उसीके सन्मुख नम्र होता हूं, और उसीको नमस्कार करता हूं।" यह आशय इस नमनके मंत्रका है ।

जब तक मनमें घमंड होगा तब तक आत्मिक भूमिकामें उन्नति प्राप्त होना सर्वथा असंभव है । गर्वको दूर करनेके लिये 'नमन' ही एक उपाय है । घमंडको दूर करनेका तात्पर्य कई समझते हैं कि आत्मगौरवका पूर्ण अभाव करना । परंतु यह आशय यहां नहीं है । 'अ-हं' का अर्थ ही यह है कि 'जिसका नाश कभी नहीं होता ।' (अ) नहीं (हा) नाश अथवा त्याग । जिस कल्पनाका त्याग नहीं किया जा सकता, वही 'अ-हं' कल्पना है । सब धर्मकी सब विधिएं अपने आत्माकी उन्नतिके लिये अर्थात् 'अहं' पदसे जो बोधित होता है उसकी उन्नतिके लिये हैं । जिसकी उन्नति करना है उसीका अभाव यदि अंतमें हो गया, तो सब प्रयत्न व्यर्थ हो जांयगे, इस लिये गर्वको दूर करना है न कि आत्मगौरवका भाव ही मिटाना है । 'मैं परमात्मा को नमन करता हूं ।' (**भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम** । यजु ४०।१८) इसमें आत्मगौरवका अभाव नहीं है । तथा इस संध्याके नमन मंत्रमें भी आत्मगौरवका अभाव नहीं है । घमंड और गर्वको दूर करना और बात है, और अपनेपनको मिटानेका प्रयत्न करना और बात है ।

अस्तु । परमेश्वरके सन्मुख नम्र होना मनुष्य मात्रके लिये उचित है । सब मनुष्यों का हित उसीमें है । कई मनुष्य यहां प्रश्न करते हैं, कि परमेश्वरसे इतना डरनेकी क्या आवश्यकता है ? उनके प्रश्नके उत्तरमें इतना ही कहना पर्याप्त है, कि परमेश्वरसे डरनेके लिये न तो इस मंत्रमें कहा है और न किसी अन्य मंत्रमें कहा है । वैदिक धर्ममें परमेश्वरके साथ उपासकका प्रेम है, न कि डर है । उपासक यहां डरके लिये नम्र नहीं

होता, परंतु भक्तिसे अर्थात् प्रेमके कारण नम्र होता है । जिस प्रकार माताके सन्मुख पुत्र असीम मातृप्रेमसे नम्र होता है, उसी प्रकार सब उपासक, परमेश्वरके अमृतपुत्र, मातृपितृस्वरूप परमेश्वरके सन्मुख मातृप्रेमके साथ, प्रेमातिशयसे, नम्र होते हैं । वैदिक धर्ममें परमेश्वरका स्वरूप माता, पिता, भाई, बंधु, सखा आदि प्रकारका कहा है । इससे पता लग जायगा कि यहां किसीको डरनेका कोई ख्याल भी नहीं है । जिस प्रकार पुत्र अपने मातापिताके पास जाता है, जिस प्रकार भाई अपने भाईसे मिलता है, जिस प्रकार मित्र अपने मित्रके गले लगता है, उसी प्रकार उपासक परमेश्वरके पास जाता है और आत्मनिवेदन करता है ।

इससे वैदिक धर्ममें 'नमन' की कल्पना कैसी श्रेष्ठ और उच्च है, इस बातका पता लग सकता है । इस लिये यहां कोई न समझे कि अनियंत्रित सार्वभौमके सामने सिर झुकानेके समान यहांका नमन है, परंतु यहांका नमन माताको नमस्कार करनेके समान प्रेमसे पूर्ण है ।

अस्तु । इस प्रकार प्रेमपूर्ण नमनके साथ यह संध्योपासनाका यज्ञ समाप्त किया जाता है ।

ॐ शांतिः । शांतिः । शांतिः ।

(व्यक्तिकी शांति । जनताकी शांति । जगत्की शांति ।)

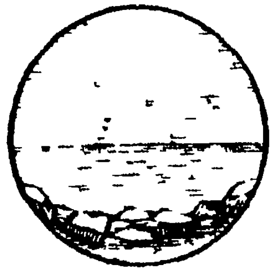

विषय-सूची ।

भूमिका ।	पृष्ठ.
संध्योपासनाके विषयमें थोडासा विवेचन	३
१ संध्याका अर्थ क्या है ...	५
२ क्या संधिसमयका संध्यासे कोई संबंध नहीं है ...	५
३ संध्या दिनमें कितनी वार करना चाहिए	७
दिनमें तीन वार उपासना	,,
दिनमें दो वार उपासना ...	१०
प्रतिदिन चार वार उपासना...	११
४ संध्या कहां करना चाहिए	१२
५ संध्याका समय और स्थान	१६
६ संध्यामें आसनका प्रयोग	१७
७ प्राणायामका महत्व ...	१९
८ संध्याकी अन्य विधि ...	२०
९ विशेष दिशाकी ओर मुख करके ही संध्या करना चाहिए या नहीं ...	,,
१० स्वभाषामें संध्या क्यों न की जावे	२३
११ संध्याके विविध भेद ...	२५
१२ यह संध्या वैदिक है वा नहीं	२६

	पृष्ठ.
सप्त व्याहृतियोंका वेदसे संबंध	२७
भूर्भुवःस्वः	,,
महः	२८
जनः	२९
तपः	३०
सत्यं, खं, ब्रह्म	,,
१३ संध्या करनेवाले उपासकके मनकी तैयारी	३१
१४ क्या ऐसा माननेसे घमंड नहीं होता	३२
१५ अंतिम प्रार्थना	,,
संध्याके अनुष्ठानका फल ...	३५
भीष्मपितामह की साक्षी ...	,,
योगके आठ अंग	३६
स्वास्थ, बल, दीर्घआयु ...	३७
मृत्युको स्वाधीन रखना ...	३८
मनकी शक्ति...	३९
संध्याके तीन विभाग ...	४०
संध्याका अनुष्टान	
संध्याकी पूर्व तैयारी ...	४३
(१) प्रथमं आचमनं ...	४५
(२) अंगस्पर्शः	४७
संध्योपासनाका प्रारंभ	५६

पृष्ठ.

३ मंत्राचमनं ५६
४ इंद्रियस्पर्शः ५७
५ मार्जनं ७३
६ प्राणायामः ८०
७ अघमर्षणं ८१
८ मनसा परिक्रमणं ... ८४
९ उपस्थानं ९३
१० गुरुमंत्रः... ... ... ९८
११ नमनं १०१

संध्योपासनाके मंत्रोंका विचार।

१ पूर्व तैयारी १०२
प्रथम आचमन ... ... ,,
आचमनका उद्देश और फल ... ,,
आचमनके समय मनकी कल्पना १०३
सत्य यश और श्री १०४
अंगस्पर्श १०६
इंद्रियस्पर्शका उद्देश १०९
अंगस्पर्श करनेकी विधी ... ११०
अंगस्पर्श और योगके अंग कोष्टक १११
संध्या और दीर्घ आयु ... ११४
संध्याका प्रारंभ ११७
मंत्राचमन ... ... ,,
इंद्रियस्पर्श १२०
हृदय और मस्तक १२१
मार्जन १२२
सप्तव्याहृतियोंके अर्थ ... ,,

पृष्ठ.

मार्जन, व्याहृतिका कोष्टक ... १२५
प्राणायाम १२६
यज्ञ १२७
प्राणायामसे बलकी वृद्धि ... १२८
अघमर्षण १२९
नास्तिक-दर्शन १३०
उत्पत्ति और प्रलयका विचार १३१
ऋत, सत्य १३३
तप, रात्री, समुद्र ... ... ,,
अर्णव, संवत्सर, अहः ... १३४
मनसापरिक्रमण १३५
दिशा कोष्टक १ ... ... १३६
,, ,, २ ... ... १३७
,, ,, ३ ... ... १३९
,, ,, ४ ... ... १४०
,, ,, ५ ... ... १४२
प्रतीची और प्राची १४४
अधिपति, रक्षिता, और इषु १४७
जंभ (जबड़ा) १४८
व्यक्तिका जबडा और समाजका जबडा १४९
प्रगतिकी दिशा १५०
दक्षताकी दिशा १५२
विश्रामकी दिशा ... ... ,,
उच्च अवस्थाकी दिशा ... ,,
स्थिरताकी दिशा १५३
उन्नतिकी दिशा ... ...

मंत्र-सूची.

	पृष्ठ.
अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु	४९,११२,१८९
अन्नं न निंद्यात् ...	११८
अप उपस्पृशति ...	११९
अपलिताः केशाः ...	११२
अप्सु मे सोमो अब्र ...	११७
अमृतमस्यमृतोपस्तर ...	१०५
अमृतापिधानमसि ...	४५,१०३
अमृतोपस्तरणमसि ...	,, ,,
अरिष्टानि मेंऽगानि	५३,१११,११३, १८९,
अर्चिरसि शोचिरसि ...	३०
अशोणा दंताः ...	११२
आप इद्वा उ भेषजीः...	११७
आपः पृणीत भेषजं ...	,,
आपो अस्मान्मातरः ...	,,
आप्यायंतु ममांगानि ...	१०८
आयुश्च रूपं च ...	१०७
इदमापः प्रवहत यत्...	११७
इन्द्रवायू सुसंदृशा ...	२९
इषे त्वोर्जे त्वा वायवः...	१०८
इष्कर्तारमध्वरस्य ...	२८
इतायातं संगवे ...	८
उत्तमे शिखरे जाते ...	२५

	पृष्ठ.
उत्तरं राष्ट्रं प्रजयो ...	१४१
उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते ...	१०६
उदीची दिक् सोमो ...	८९
उदीचीमारोह ...	१३८
उदीच्यै त्वा दिशे ...	१४६
उदुत्यं जातवेदसं ...	९४
उद्वयं तमसस्परि ...	९३,१८५
उपह्वरे गिरीणां सं ...	१२
ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पति ...	९१
ऊर्ध्वामारोह	१३८
ऊर्ध्वायै त्वा दिशे ...	१४६
ऊर्वोरोजो जंघयो ...	१०६, १११
ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु	५२,१११,११३, १८९
ऋणं कृत्वा घृतं ...	१३०
ऋतं च सत्यं चाभी ...	८१
ऋषयो नित्यसंध्यत्वात्	३५, ११४
ओजश्च तेजश्च ...	१०७
कंठः ...	६९, ११२, १८९
करतल-करपृष्ठे ...	७२
कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु	५१, १११, १८९
खं ब्रह्म पुनातु ...	७९
चक्षुः चक्षुः ...	६३, ११२, १८९

	पृष्ठ.		पृष्ठ.
चित्रं देवानामुदगात् ...	९५	पश्येम शरदः शतं ...	९६, १८९
जनः पुनातु नाभ्यां ...	७६	प्रतीची दिग्वरुणो ...	८८
तच्चक्षुर्देवहितं पुरः ...	९६	प्रतीचीमारोह ...	१३८
तज्जपस्तदर्थ–भावनं ...	१९१	प्रतीचीं दिशामिय ...	१४१
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो ...	२७, ९८	प्रतीच्यां दिशि भसदं ...	१४०
तद्यदप उपस्पृशति ...	१०३	प्रतीच्यै त्वा दिशे ...	१४६
तनूस्तन्वा मे सहे ...	१०६, ११२	प्राची दिगग्निरधि ...	८४, १४७
तपः पुनातु पादयोः ...	७७	प्राचीमारोह ...	१३८
तपसस्तनूरसि ...	३०	प्राचीं प्राचीं प्रदिशं ...	१४१
तस्मादु ह न प्रती ...	१८३	प्राची हि देवानां ...	१८३
त्वं रयि पुरुवीरामु ...	,,	प्राच्यै त्वा दिशे ...	१४६
दक्षिणा दिगिंद्रोऽधि ...	८६	प्राच्यां दिशि शिरो ...	१४०
दक्षिणामारोह ...	१३८, १७९	प्राणः प्राणः	५९, ११२, १८९
दक्षिणायै त्वा दिश ...	१४६	प्रातर्देवीमदितिं ...	१०
दक्षिणां दिशामभि ...	१४१, १७८	प्रियं मा कृणु देवेषु ...	१०६
दक्षिणायां दिशि ...	१७८, १७९	बहु बाह्वोर्बलं ...	१११
धाता यथा पूर्वम ...	१३०	बाहुभ्यां यशो बलं	७१, ११२, १८९
ध्रुवा दिग्विष्णुरधिप ...	९०	बाह्वोर्मे बलमस्तु	५१, १११, ११३, १८९
ध्रुवायै त्वा दिशे ...	१४६	ब्रह्म च क्षत्रं च ...	१०७
ध्रुवेयं विराण्नामा ...	१४१, १८०	भद्रमिच्छंत ऋषय ...	१४४
नमः शंभवाय च ...	१०१	भुवः पुनातु नेत्रयो ...	७४
नमः सायं नमः प्रातः...	११	भूः पुनातु शिरसि ...	७३
न वै तं चक्षुर्जहाति ...	१८९	भूः । भुवः । स्वः । ...	२७, ८०
नसोर्मे प्राणोऽस्तु	४७, ११२, १८९	मम त्वा सूर उदिते ...	७
नाभिः ...	६६, ११२	मरुतो यस्य हि क्षये ...	२९
पयश्च रसश्चान्नं ...	१०७	महः पुनातु हृदये ...	७५
पादयोः प्रतिष्ठा ...	११२	मूर्धानमस्य संसीव्य ...	१२३

	पृष्ट.
मेधां सायं मेधां प्रातः...	९
यदद्य सूर उदिते ...	,,
यदद्य सूर उद्यति ...	८
यद्देवापः प्रणयति ...	११९
ये स्यां स्थ दक्षिणा ...	१३६
ये स्यां स्थ ध्रुवायां ...	,,
ये स्यां स्थ प्रतीच्यां ...	,,
ये स्यां स्थ प्राच्यां ...	,,
ये स्यां स्थोदीच्यां ...	,,
ये स्यां स्थोर्ध्वायां ...	१३७
यो वै तां ब्रह्मणो वेद ...	१८९
लाजीञ्छाचीन्यव्ये ...	२७
वाक् वाक् ...	५७
वाङ्म आसन्नसो ...	१०६
वाङ्म आस्येऽस्तु ...	४७, ११२
शं नो देवीरभिष्टये ...	५६
शिरः	७१, ११२
श्रद्धां प्रातर्हवामहे ...	९

	पृष्ठ.
श्रोत्रं श्रोत्रं ...	६५, ११२, १८९
संगच्छध्वं संवदध्वं ...	१३३
सत्यं च मे श्रद्धा ...	१०५
सत्यं चर्तं च चक्षुषी ...	,,
सत्यं पुनातु पुनः ...	७८
सत्यमूचुर्नर एवा ...	१०५
सत्यं यशः श्रीर्मयि ...	४६, १०४
सत्याय तपसे देवता ...	१०५
स मनसा ध्यायेत् ...	३९
समुद्रादर्णवादधि ...	८१
सर्वमायुरशीय ...	११२
सुप्रजाः प्रजाभिः ...	२७
सूर्याचंद्रमसौ धाता ...	८१
स्वः पुनातु कंठे ...	७४
हवे त्वा सूर उदिते ...	१०
हिरण्यगर्भ इत्येषः ...	२७
हृदयं	६८, ११२

योग-साधन-माला।

'वैदिक धर्म' वास्तवमें आचार प्रधान धर्म है। वेदका उपदेश केवल मनमें धारण करनेसे, वेदके मंत्रोंका अर्थ समझनेसे, अथवा वैदिक आशयको केवल विचारमें रखनेसे कोई प्रयोजन नहीं निकल सकता, जब तक उस **उपदेशके अनुसार आचरण** नहीं होगा।

'वैदिक उपदेशका तत्व' आचरणमें लानेके उद्देशसे ही **'योग शास्त्र'** का अवतार हो गया है। प्राचीन कालमें **'योग-साधन'** का अभ्यास सर्व साधारणतः आठ वर्षकी अवस्थामें प्रारंभ किया जाता था। विपेश अवस्थामें इससे भी पूर्व होता था। आठ वर्षकी बालपनकी आयुमें योग साधनका प्रारंभ होनेसे और गुरुके सन्निध रहकर प्रतिदिन योग साधन करनेसे २५।३० वर्षकी अवस्थामें ब्रह्मसाक्षात्कार होना संभव था। अथर्व वेद (कां. १०।२।२९) में कहा है कि **"जो इस अमृत-मय ब्रह्मपुरीको जानता है, उसको ब्रह्म और इतर देव इंद्रिय प्राण और प्रजा देते हैं।"** अर्थात् पूर्ण दीर्घ आयुकी समाप्तितक कार्यक्षम और बलवान इंद्रिय, उत्तम दीर्घ जीवन, और सुप्रजा निर्माणकी शक्ति, ये तीन फल ब्रह्मज्ञानसे मनुष्यको प्राप्त होते हैं। यदि योग्य रीतिसे **योग साधन**

का उत्तम अभ्यास हो गया, तो ब्रह्मचर्य समाप्ति तक उक्त अधिकार प्राप्त होना संभव है।

इस समय योग साधनके अभ्यासका क्रम बतानेवाला गुरु उपस्थित न होनेके कारण कईयोंकी इस विषयकी इच्छा तृप्ति नहीं हो सकती। इस लिये **"योग-साधन-माला"** द्वारा योगके सुगम तत्वोंका अभ्यास करनेके साधन प्रकाशित करनेका विचार किया है। आशा है कि पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

इस मालाकी पुस्तकोंमें उतनाही विषय रखा जायगा कि जितना अभ्याससे अनुभवमें आचुका है। पहिले कई सालतक अनेक मनुष्योंपर अनुभव देखनेके पश्चातही इस मालाकी पुस्तकें प्रसिद्ध की जाती हैं। इस लिये आशा है कि पाठक स्थायी ग्राहक बनेंगे और अभ्यास करके लाभ उठायेंगे।

इस **"योग-साधन माला"** के पुस्तक एकही बार पढने योग्य नहीं होते, परंतु वारंवार पढने योग्य होते हैं। तथा इनमें जो मंत्र दिये जाते हैं उनका निरंतर मनन होना आवश्यक है। पाठक इस वातका अवश्य ध्यान रखें।

इस समय तक इस मालाके निम्न पुस्तक, प्रसिद्ध हो चुके हैं—

संध्योपासना ।

(१)

कागज और छपाई बहुत बढिया है । मूल्य १॥) डेढ रुपया है । शीघ्र मंगवाइए । (द्वितीयवार मुद्रित)

संध्याका अनुष्ठान ।

(२)

इस पुस्तकमें, संध्याके प्रत्येक मंत्रके साथ अष्टांग योगका जो जो अनुष्ठान करना आवश्यक है, दिया है । इस प्रकार संध्याका अनुष्ठान करनेसे संध्याका आनंद प्राप्त हो सकता है । मूल्य ॥) आठ आने है ।

वैदिक प्राण विद्या ।

(३)

यह योगसाधन मालाकी तृतीय पुस्तक है । इसमें निम्न विषयोंका विचार किया है—

भूमिका—अवैतनिक महावीरोंका स्वागत । अवैतनिक राष्ट्रीय स्वयंसेवकोंका सन्मान, एकादश रुद्र, महावीर, एकादश प्राण, प्राणोपासना ।

वैदिक प्राण विद्या—वेदमें प्राणकी विद्या, **प्राणसूक्त (अथर्व. ११।६)** ईश्वर सबका प्राण, अंतरिक्षस्थ प्राण, प्राणका कार्य, वैयक्तिक प्राण, पूरक कुंभक रेचक और बाह्य कुंभक, प्राणका औषधिगुण, प्राण और रुद्र, सर्वरक्षक प्राण, प्राण उपासना, सत्यसे बल प्राप्ति, सूर्यचंद्रमें प्राण, प्राणोंका प्राण, धान्यमें प्राण, पृथिवी, धारक बैल, प्राणसे पुनर्जन्म, आथर्वण चिकित्सा, मनुष्यज औषधि, दैवी औषधि, आंगिरस औषधि, आथर्वण औषधि, प्राणकी वृष्टि, प्राणको स्वाधीन रखनेवालेकी योग्यता, पितापुत्र

संबंध, हंस, सोऽहं, अहं सः, ब्रम्हाका वाहन हंस, कमलासन, मानस सरोवर, प्राणचक्र, नमन और प्रार्थना, जागनेवाला प्राण, प्राणसूक्तका सारांश, **ऋग्वेदमें प्राणविषयक उपदेश**, असुनीति प्राणनीति, **यजुर्वेदमें प्राणविषयक उपदेश**, प्राणकी वृद्धि, प्राण राजा, सत्कर्म और प्राण, प्राणदाता अग्नि, भौवायन प्राण, प्राणके साथ इंद्रियोंका विकास, विश्वव्यापक प्राण, लढनेवाला प्राण, इडा पिंगला सुषुम्ना, गंगा यमुना सरस्वती, सरस्वतीमें प्राण, भोजनमें प्राण, सहस्राक्ष अग्नि, **सामवेद** प्राणवेद, **अथर्ववेदका प्राण विषयक उपदेश**, मैं विजयी हूं, पंचमुखी महादेव, ग्यारह रुद्र, पशुपति, पंच अग्नि, प्राणाग्निहोत्र, प्राणका मीठा चाबुक, अपनी स्वतंत्रता और पूर्णता, प्राणकी मित्रता, आत्माके सप्तप्राण, समयकी अनुकूलता, प्राणरक्षक ऋषि, वृद्धताका धन, बोध और प्रतिबोध, उन्नतिही तेरा मार्ग है, यमके दूत, अथर्वाका सिर, ब्रह्मलोककी प्राप्ति, देवोंका कोश, ब्रह्मकी नगरी, अयोध्या नगरी, अयोध्याका राम, चारों वेदोंके प्राण विषयक उपदेशका सारांश ।

उपनिषदोंमें प्राणविद्या—प्राणकी श्रेष्ठता, रयि और प्राण, प्राण कहांसे आता है, सूर्य और प्राण, देवोंकी घमंड, प्राणस्तुति, प्राणरूप अग्नि, देव, पितर, ऋषि, अंगिरा, प्राणका प्रेरक, मारुती, वायुपुत्र, दाशरथी राम, दशमुखकी लंका, अंगोंका रस, प्राण और अन्य शक्ति, पतंग, वसु रुद्र आदित्य, तीन लोक ।

इस पुस्तकमें इतने विषयोंका विचार किया है । यह पुस्तक अ[illegible]वेदके प्राणसूक्त (११।६) की विस्तृत व्याख्या ही है । का[illegible] और छपाई अत्यंत उत्तम । **मूल्य १) एक रु.** ।

ब्रह्मचर्य (सचित्र)

(४)

यह योग साधन मालाकी चतुर्थ पुस्तक है । इसमें ब्रह्मचर्य साधन करनेकी यौगिक क्रिया बताई है । (छप रहा है ।)

मंत्री—स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

इस माला द्वारा योगसाधनके विधि सुगम रीतीसे बताये जाते हैं। आपभी योगसाधन करके अपूर्व शांति प्राप्त कर सकते हैं। शीघ्र ग्राहक बन जाइए।

(१) संध्योपासना। दैनिक योगाभ्यास।
मूल्य १॥) डेढ रु.।

(२) संध्याका अनुष्ठान। संध्या करनेकी रीति।
मूल्य ॥) आठ आने।

(३) वैदिक प्राणविद्या। मूल्य १) एक रु.

(४) आसन
(५) प्राणायाम } छपरहे हैं।

मंत्री—स्वाध्याय-मंडल,
औंध (जि. सातारा.)

(१) वेदका स्वयंशिक्षक । मू. १॥) डेढ रु. ।
(२) संध्योपासना । मूल्य १॥) डेढ रु. ।
(३) संध्याका अनुष्ठान । मू. ॥) आठ आने ।
(४) नरमेध । मानवी उन्नतिका साधन । मू. १) रु. ।
(५) एक ईश्वर उपासना । सर्वमेध यज्ञ । मू. ॥) आठ आने ।
(६) सच्ची शांतिका उपाय । शांतिकरण । मू. ॥) आठ आने ।
(७) रुद्रदेवता-परिचय । मू. ॥) आठ आने ।
(८) ऋग्वेदमें रुद्र देवता । मू. ॥=) दस आने ।
(९) मानवी आयुष्य । मू. ।) चार आने ।
(१०) ३३ देवताओंका विचार । मू. =) दो आने ।
(११) देवता विचार । मू. ≡) तीन आने ।
(१२) वैदिक राज्य पद्धति । मू. =) दो आने ।
(१३) बालक-धर्मशिक्षा । प्रथम भाग । मू. -) एक आना ।
(१४) बालक-धर्मशिक्षा । द्वितीय भाग । मूं. =) दो आने ।
(१५) वैदिक-पाठ-माला । मू. ≡) तीन आने ।
(१६) वैदिक चिकित्सा शास्त्र । मू. ।) चार आने ।
(१७) वैदिक सभ्यता । मू. ≡) तीन आने ।
(१८) शतपथ बोधामृत । मू. ।=) छे आने ।
(१९) वैदिक-प्राण-विद्या । मू. १) रु. ।

मंत्री—स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि. सातारा.)